अधिकार-भेद का अर्थ कुछ और भी है, पर साधारण समझ में उसे इसी प्रकार लिया गया है। दो बातें इस प्रकार को समझने में भुला दी गयी हैं। एक यह है कि कोई भी व्यक्ति प्रत्येक आयाम में दूसरे से बड़ा या छोटा नहीं होता, हरेक का अपना कर्म-कौशल होता है जिसमें वह दूसरों को कुछ सिखा सकता है। और अगर हम मनुष्यों को इस 'सीखने-सिखाने' के संदर्भ में देखें तो हरेक दूसरे से हमेशा कुछ न कुछ सीख सकता है और इस प्रकार देखने पर मनुष्यों के बीच का सम्बन्ध उस प्रकार का रह ही नहीं सकता जहाँ एक व्यक्ति दूसरे को इस तरह से देखे कि वह हर प्रकार से उससे छोटा या नीचा है।

लेकिन इससे भी गहरी ग़लती उस दृष्टि में यह है कि वह यह भूलकर चलती है कि जो कुछ भी है उसका उस परम सत् से सीधा सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध में न कोई पास है न कोई दूर, न कोई छोटा है न कोई बड़ा, उस 'सत्' के लिए सब समान हैं। 'भेद' की बात व्यवहार-जगत् में होती है, परमार्थ जगत् में नहीं-परमार्थ जगत् में उस भेद को उस प्रकार से लाना है जैसा वह व्यवहार-जगत् में अनिवार्य रूप से उपस्थित है। यह इतनी बड़ी ग़लती है कि इसके लिए किसी प्रायश्चित की भी व्यवस्था नहीं हो सकती।

व्यवहार और परमार्थ का भेद भारतीय परम्परा के मूल में अवस्थित है, लेकिन उसने शायद इस भेद को ठीक तरह नहीं समझा। पहली बात तो यह है कि व्यवहार-जगत् में स्वयं अनन्त भेद हैं। दूसरी ओर परमार्थ-जगत् में भी भेद कम प्रतीत नहीं होते। इसके अलावा परमार्थ और व्यवहार के सम्बन्ध के बारे में कोई निश्चित बात कहना असंभव है, क्योंकि वह सम्बन्ध ईश्वर और जगत् के बीच का सम्बन्ध है, या जो त्रिकालातीत है उसका काल से सम्बन्ध है, और इस सम्बन्ध को न बुद्धि समझ सकती है न कोई और शक्ति जो मनुष्य के पास है। पर इतना हरेक जानता है कि यह सम्बन्ध है, और इसके सहारे ही और सब सम्बन्ध खड़े हैं।

अगर इन सम्बन्धों के बारे में मनुष्य अपनी आत्मचेतना में यह दृष्टि कुछ हद तक आत्मसात् कर भी ले तो उसकी दृष्टि में, उसके व्यवहार में, उसके भाव-जगत् में जो परिवर्तन आयेगा उससे उसका सबसे सम्बन्ध अधिक सार्थक ही बनेगा क्योंकि तब उसके लिये अन्य अन्य नहीं रहेगा और स्वयं के बारे में वह आत्मचेतना नहीं रहेगी जिसने उसे जगत् से विच्छिन्न कर दिया है

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। **भगवद्गीता**, 6/30

❑

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्रोत (1)

भारतीय दर्शन और दार्शनिकता

भारतीय दर्शन पर अगर आप कोई भी किताब पढ़ेंगे तो अधिकतर आपको यही पढ़ने को मिलेगा कि भारत में दो तरह के दर्शन होते हैं—एक आस्तिक और दूसरे नास्तिक। 'आस्तिक' और 'नास्तिक' का यह प्रयोग बड़ा ही अजीब सा है, क्योंकि 'आस्तिक' का मतलब यहाँ इस बात से नहीं है कि वे ईश्वर में विश्वास करते हैं बल्कि इस बात से है कि वे वेद को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी तरह 'नास्तिक' का अर्थ यही होता है कि वे वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते, न कि यह कि वे ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन इसी कोटि में आते हैं तथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा पहली कोटि में रखे जाते हैं। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि भारतीय दर्शन की विशेषता यह है कि यह 'दर्शन' है न कि शुद्ध बौद्धिक विचार या विमर्श। क्योंकि जो सत्य है वह विचार का विषय न होकर साक्षात्कार का विषय है। कहने का मतलब यह है कि उसका हम उसी प्रकार अनुभव करते हैं जैसे कि इन्द्रियों से किसी प्रत्यक्ष विषय का, या कहें उससे भी अधिक निकट और आत्मीय या आत्म रूप में। कहा भी है कि भगवान 'गूँगे का गुड़ है'। जिस प्रकार गुड़ के स्वाद का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, उसे केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है, उसी प्रकार जो परम सत् है उसको भी अनुभव के द्वारा ही जाना जा सकता है, बुद्धि के द्वारा नहीं।

ये सब बातें करीब-करीब पहले ही कुछ पृष्ठों में कही जाती हैं, परन्तु उसके बाद जिस प्रकार से भारतीय दर्शन की चर्चा की जाती है उसका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। असल में तो यह सवाल उठाया ही नहीं जाता कि आखिर दर्शन की इतनी लम्बी परम्परा इस देश में क्यों और कैसे बनी तथा उसमें इतने सम्प्रदाय किस प्रकार से हुए, और यदि बुद्धि की या तर्क की कोई स्थिति ही नहीं थी तो इतना खण्ड़न-मण्ड़न क्यों हुआ? यही नहीं, यह भी सोचने की बात है कि खाली नाम गिनाने से इन मत-मतान्तरों के 2000 साल से भी अधिक के इतिहास का लेखा-जोखा कैसे समझा जायेगा। आखिर न्याय-दर्शन अगर वही है जो

न्याय सूत्र में लिखा गया तो उसके लगभग 2000 साल की या उससे अधिक की परम्परा का क्या अर्थ है, और आज हमारा दर्शन की इन विभिन्न परम्पराओं से क्या सम्बन्ध है या होना चाहिए? क्या हमारा काम केवल समझना ही है, उसके आगे हमारा कोई कर्तव्य रह ही नहीं जाता? क्या सब कुछ सोचा जा चुका है व समझा जा चुका है? और क्या यह विचार की दर्शन की ये विविध परम्पराएँ 17वीं या 18वीं शताब्दी तक समाप्त हो चुकी थीं ठीक है? और अगर ऐसा है तो वे क्या कारण थे कि तब तक तो उन परम्पराओं में बराबर विस्तार होता रहा और नये विचारक प्रकट होते रहे और उसके बाद एकाएक वह प्रवाह बन्द हो गया और लोगों को यह लगने लगा कि अब आगे कुछ कहने को नहीं है?

असल में बात ऐसी नहीं है, और न यही सच है कि दार्शनिक विचार की धारा अवरुद्ध हो गई है। दर्शन के इतिहास के लिखने के तरीके ने ही यह भ्रांति उत्पन्न की है कि जो कुछ कहना था, सोचना था, वह सब कहा जा चुका है और भारत की दार्शनिक परम्पराएँ इन 9 गिने-गिनाये नामों में आबद्ध हैं और इनमें भी कुछ नया नहीं है, केवल जो इनके मूल ग्रन्थों या सूत्रों में लिखा गया था उसका सिर्फ विस्तार मात्र है।

परम्परागत ग्रन्थों को थोड़ा भी देखने से पता चलेगा कि यह बात सच नहीं है। दार्शनिक चिन्तन की परम्पराएँ सतत प्रवाहमान रही हैं और उनमें नये-नये विचारकों का योगदान होता रहा है। यही नहीं, बल्कि समय-समय पर ऐसे महान् दार्शनिक उत्पन्न होते रहे हैं जिन्होंने भारतीय चिन्तन को नया मोड़ दिया और आगे आने वाले दार्शनिकों के लिए नये आयाम खोजे। उन्होंने अपने से पहले किये गये चिन्तन को पूरी तरह स्वीकार भी नहीं किया। असल में तो उनकी दृष्टि उन नये सवालों या समस्याओं पर थी जो उनके सामने उपस्थित हुए थे और जिनका जवाब या समाधान ढूँढने की कोशिश में ये थे। दर्शन की परम्परा, या कहें बौद्धिक चिन्तन की परम्परा का स्वरूप ही यह है कि जब तक बुद्धि के सामने कोई उलझन पैदा नहीं होती या सवाल नहीं उठता या समस्या खड़ी नहीं होती, तब तक बौद्धिक प्रक्रिया जागृत ही नहीं होती। सोचने का पहला कदम संशय है, ऐसा ध्यान से देखने पर गौतम के न्याय सूत्रों में निहित दिखाई देगा। प्रमाण-प्रमेय-व्यापार संशय के बाद प्रारम्भ होता है, हालांकि गौतम ने प्रथम सूत्र में प्रमाण-प्रमेय को संशय से पहले रखा है। पर शायद उन्होंने इसलिए ऐसा किया कि वे प्रमाण-प्रमेय-व्यापार को दर्शन का केन्द्र बिन्दु बताना चाहते और यह एक प्रकार से सच भी है, क्योंकि यदि संशय का समाधान प्रमाण के द्वारा न किया जाये तो वह दर्शन नहीं कहलायेगा। जो लोग शुद्ध विश्वास की बात करते हैं, या कहते हैं कि केवल अनुभव ही सत्य तक पहुँचाता है उनकी दर्शन की राह पर चलने की इच्छा नहीं होती, न शायद उन्हें उसमें कोई रुचि ही होती। यह ठीक है कि गीता में कहा गया है कि 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्', पर वहाँ जिस प्रकार के ज्ञान की बात

कही गई है उसका दार्शनिक ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है और अगर है भी तो कम से कम सीधा न होकर कुछ टेढ़ा-मेढ़ा ही हो सकता है। एक प्रकार से गहराई से देखें तो श्रद्धा और संशय में इतना विरोध नहीं है जितना कि पहली दृष्टि में दिखाई पड़ता है। संशयवान् को भी आशा है कि उसका संशय समाप्त होगा, कि उसे ज्ञान मिलेगा, कि उसका विश्वास जागेगा। और यदि वह मनुष्य है तो उसे निश्चय नहीं होता कि वास्तव में जो विश्वास करता है वह सच ही है। हो सकता है कि उसमें कोई कमी हो, वह गलत हो। आखिर वह कोई सर्वज्ञ तो है नहीं, यदि वह मनुष्य है तो उसका ज्ञान अधूरा ही होगा।

बहुत से पश्चिमी विचारकों ने भारतीय दर्शन को इस आधार पर 'दर्शन' कहने से इन्कार किया है कि वह तर्कनिष्ठ न होकर शब्द प्रमाण पर आधारित केवल श्रद्धा या विश्वास मात्र हैं। पर यह सत्य नहीं है। भारतीय दार्शनिक परम्परा बुद्धिनिष्ठ ही नहीं है, बल्कि बुद्धि के स्वरूप को अपने में इस प्रकार समाहित करती है जिस प्रकार पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। आखिर बुद्धि का स्वरूप क्या है? क्योंकि जब तक हम यह नहीं जानें हम बुद्धिनिष्ठता की बात ही नहीं कर सकते। पश्चिम के वे दार्शनिक बुद्धिनिष्ठता की बात करते हैं और कहते हैं कि फ़िलसफ़ा वही होता है जो बुद्धिनिष्ठ हो, वे भी यह स्पष्ट नहीं करते कि आखिर बुद्धिनिष्ठ होने का अर्थ क्या होता है? अगर गहराई से सोचें तो बुद्धि का स्वरूप ही यह प्रतीत होता है कि हम सहज रूप से यह सवाल उठाएँ कि आखिर इसमें कोई दोष या भ्रांति तो नहीं है, क्या इसका जो विपरीत पक्ष है वह तो सत्य नहीं है? क्या उसके लिए कोई अधिक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता? संक्षेप में, क्या जो हम मान रहे हैं वह हमें मानना चाहिए और यदि कोई उसके विरोध में खड़ा होता है या उसके बारे में संशय करता है तो हमारे पास इसको सिद्ध करने का कोई आधार है?

यदि हम बुद्धि का स्वरूप मानें तो इसमें कोई संशय नहीं है कि भारत की दार्शनिक परम्परा इसी रूप में प्रस्तुत होती रही है। विभिन्न दर्शनों के मूल ग्रन्थ समझे जाने वाले सूत्रों से ही यह साफ़ तौर पर दिखाई पड़ने लगता है। उदाहरण के लिए, न्याय और मीमांसा सूत्र दोनों में पूर्वपक्ष और उसका खण्डन परिपक्व रूप में मिलता है। मीमांसा सूत्र में तो प्रायः उन लोगों के नाम भी दिये गये हैं जिन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में दिये गये मत के सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की थी। यही नहीं, जैसा कि सर्वविदित है, बहुत से दार्शनिक मतों का तो हमें इन पूर्वपक्षों के द्वारा ही पता चलता है। सूत्रों से पहले के ग्रन्थों में भी इस प्रकार की परिपाटी देखने को मिलती है। यास्क का **निरुक्त**, जो वैदिक वाङ्मय के बाद करीब-करीब सबसे पहले पाया जाने वाला ग्रन्थ है, उसमें भी इस तरह की बात परिलक्षित होती है।

बहुत बार तो पूर्वपक्षों के भी पूर्वपक्ष प्रस्तुत किये जाते थे और विचारक अपनी बुद्धि का परिचय पहले उनका खण्डन करने में दिखाता है और बाद में

जिस पूर्वपक्ष की स्थापना उसने उस खण्डन के द्वारा की थी उसका भी खण्डन करता है। कहने का सीधा तात्पर्य यह है कि बुद्धि का स्वरूप ही यदि खण्डन-मण्डन को माना जाये और सन्देह को उसका केन्द्रबिन्दु माना जाये तो भारतीय दार्शनिक परम्पराओं ने यही रूप अपनाया है और इस प्रकार कोई भी उसकी बुद्धिनिष्ठता पर सन्देह नहीं कर सकता। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन की परम्परा ने इस स्वरूप को स्वीकार नहीं किया है। ऐसा नहीं है कि वहाँ खण्डन-मण्डन नहीं होता है, परन्तु दर्शन को प्रस्तुत करने के तरीके में इसको सहज और अनिवार्य रूप में अपनाया नहीं गया है।

ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तव में बुद्धि का स्वरूप खण्डन-मण्डन न होकर संवाद है, जो बुद्धि अपने से ही करती है, या कभी-कभी किसी अन्य से। और यदि पश्चिमी दार्शनिक परम्परा को प्लेटो से शुरू हुआ मानें तो यह सत्य भी प्रतीत होता है, क्योंकि प्लेटो ने अपने दार्शनिक ग्रन्थ संवाद के रूप में ही लिखे थे। परन्तु एक तो पश्चिमी दर्शन की परम्परा ने इस प्रथा को अपनाया नहीं, हालांकि प्लेटो में इसका उत्कृष्टतम उदाहरण मिलता है। अगर ध्यान से देखें तो दार्शनिक ग्रन्थों के लिखने की विधि के सन्दर्भ में पश्चिम का आदर्श प्लेटो न होकर अरस्तू रहा है। इसलिए यदि कोई संवाद को बुद्धि का सहज रूप माने भी तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी दर्शन ने यह विधि कोई खासतौर पर अपनायी है। दूसरी ओर पूर्वपक्ष के खण्डन और सिद्धान्त की स्थापना में, और जिसे संवाद कहते हैं उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। भारतीय दर्शन ने वाद, जल्प और वितण्डा में भेद किया है। यह भी इस पर आधारित है कि वाद में किसी व्यक्ति का अपना कोई सिद्धान्त होता है और वह उसमें प्रवृत्त इसलिए होता है कि वह उस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए तैयार है और उसके सब विरोधी पूर्वपक्षों का खण्डन करने के लिए भी तैयार है। जल्प वह होता है जब व्यक्ति यह जानते हुए भी कि जो वह कह रहा है वह गलत है, उसके लिए तर्क करता है तथा दूसरी ओर वितण्डा में उसका कोई सिद्धान्त ही नहीं होता और वह केवल बहस करने के लिए बहस करता है। हालांकि **न्यायसूत्र** में जल्प और वितण्डा की बुराई की गई है और कहा गया है कि ऐसे लोगों से कोई बहस नहीं करनी चाहिए, पर नागार्जुन जैसे बौद्ध विचारक और श्री हर्ष जैसे दार्शनिकों ने यह विधि अपनाई है और अगर सोचें तो सहज चिन्तन की भी यही प्रक्रिया है। सिद्धान्त तो बाद में बनता है, पहले तो बुद्धि चिन्तन और मनन के द्वारा सत्य को खोजती है और विभिन्न मतों की परीक्षा करती है। किसी बात को थोड़ी देर के लिए मान लेती है और अगर उसमें दोष दिखाई देता है तो उसे छोड़ देती है, या उसमें परिष्कार करती है।

चिन्तन एक सतत प्रक्रिया है, और अगर वह जीवन का अंग है तो उसे ऐसा होना भी चाहिए। किसी सिद्धान्त को पकड़े रहना और यह समझना कि पूर्ण रूप से सत्य प्राप्त हो गया है, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है? दर्शन का

इतिहास हमको यही बताता है, फिर वह इतिहास पश्चिमी दर्शन का हो या भारतीय दर्शन का।

भारतीय दर्शन को इस रूप में फ़िलसफ़ा नहीं मानने का एक और कारण पश्चिमी विचारक यह बताते हैं कि वह पूर्ण रूप से बुद्धिनिष्ठ या तर्कनिष्ठ न होकर किसी पूर्वमान्यता को सिद्ध करने के लिए ही प्रवृत्त होता है या किसी अन्य प्रयोजन के लिए होता है, जिसका बुद्धि से काई सीधा सम्बन्ध नहीं है। पहली बात उसके उस स्वरूप की ओर इशारा करती है जहाँ वह किसी पूर्वप्रतिपादित विश्वास को तर्क का आधार देने की कोशिश करता है और यह बताने की कोशिश करता है कि जो श्रद्धा और विश्वास पर आधारित है वह तर्क-सिद्ध या बुद्धि के द्वारा भी प्रमाणित हो सकता है। इस प्रकार के दर्शन को पश्चिमी परम्परा में 'थियॉलेजी' का नाम दिया जाता है और इस प्रकार का दर्शन वहाँ बहुतायत से पाया भी जाता है। यही कारण है कि पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में जिन दार्शनिकों ने इस बात का खुलकर विरोध किया और यह माना कि बुद्धि तर्क के द्वारा स्वयं सत्य का निर्धारण कर सकती है या सत्य को पा सकती है, उन्हें ही सच्चा दार्शनिक माना गया। यही नहीं, बल्कि उनके इतिहास में इस प्रकार के पराबौद्धिक विश्वास या श्रद्धा का मूल केवल ईसाई सम्प्रदाय के विश्वासों में ही था जिनका आधार **बाइबिल** में प्राप्त होने वाले ईसा के वचन थे। इसलिए उनकी परम्परा में दर्शन के केवल दो ही प्रकार हाते हैं। एक वह जो ईसाई धर्म में श्रद्धा और भक्ति के आधार पर मान्य सत्यों को बुद्धि और तर्क द्वारा प्रतिपादित करने की चेष्टा करता है और दूसरा वह जो इससे हटकर स्वयं सत्य की खोज करता है। दर्शन की भारतीय परम्परा पर इस प्रकार की बात लागू करना एक दुराग्रह मात्र है, क्योंकि यहाँ उस प्रकार का स्थान किसी एक धर्म का नहीं है जैसा स्थान पश्चिमी परम्परा में ईसाई मत का है। अगर यह माना भी जाये कि वेद का स्थान कुछ-कुछ उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि ईसाई परम्परा में बाइबिल का है, तब भी उसमें और बाइबिल में जमीन-आसमान का अन्तर है। श्रुति की मान्यता उस प्रकार की नहीं है जिस प्रकार कि बाइबिल की है। वेद की प्रामाणिकता को सीधे रूप में और पूरी तरह मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय भारतीय परम्परा में केवल दो हैं, एक मीमांसा और दूसरा वेदान्त। कुछ लोग पहले को पूर्वमीमांसा कहते हैं और दूसरे को उत्तरमीमांसा। और, यह ठीक भी है कि इन दो परम्पराओं में श्रुति की प्रधानता है और उनमें श्रुति के वचनों को बुद्धि द्वारा सिद्ध करने का आग्रह भी। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, यह भी उस प्रकार की 'थियॉलेजी' से पूर्णत: भिन्न है जिसका पश्चिमी परम्परा में बाहुल्य है, और जो अक्सर वहाँ पायी जाती है। पर इन दो दार्शनिक धाराओं के अतिरिक्त भारत में बहुत सी अन्य धाराएँ भी हैं और उनमें से कुछ तो स्पष्ट तौर पर वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार करती हैं और कुछ ऐसी हैं जो उसकी प्रामाणिकता

को मानते हुए भी यह नहीं मानती कि केवल वेद ही प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और कोई अन्य नहीं।

इस तरह ध्यान से देखने पर यह साफ मालूम होता है कि पश्चिमी विचारकों की यह मान्यता कि भारतीय दर्शन प्रधानत: शुद्ध दर्शन न होकर एक प्रकार से जिसे वे अपनी परम्परा में 'थियॉलोजी' कहते हैं, उसका ही एक अन्य रूप है, गलत है। यह मान्यता कितनी भ्रमपूर्ण है यह तो इससे ही सिद्ध हो जाता है कि भारतीय दर्शन की परम्परा में ईश्वर का स्थान बहुत ही गौण है। यहाँ तक कि बहुत सारे दर्शन तो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते और जो करते हैं वे भी गौण रूप में ही करते हैं। मनुष्य-केन्द्रित विचार किसी भी संस्कृति में इतना गहरा और व्यापक नहीं हुआ है जितना कि भारतीय संस्कृति में, हालांकि यह कहना भी ठीक होगा कि मनुष्य के आध्यात्मिक या पारमार्थिक पक्ष पर जितना बल भारतीय चिन्तन में दिया गया है उतना शायद किसी अन्य परम्परा में नहीं। दार्शनिक लोग भी जिस संस्कृति और समाज में पले होते हैं उसी की प्रचलित चिन्तन-धारा से आबद्ध रहते हैं। पश्चिम के दार्शनिक अपनी संस्कृति में परम्परागत दार्शनिक रूपों और आयामों से उतने ही आबद्ध हैं जितने कि दूसरी संस्कृति के। उन्हें शायद यह बात समझ में ही नहीं आती कि कोई दार्शनिक परम्परा ईश्वर को माने बग़ैर भी अध्यात्म केन्द्रित कैसे हो सकती है और उनको यह भी समझना मुश्किल लगता है कि श्रुति-प्रामाण्य या आगम-प्रामाण्य या शब्द-प्रामाण्य का अर्थ हमारे यहाँ उससे बिल्कुल भिन्न है जो उनकी अपनी परम्परा में बाइबिल या कुरान के प्रामाण्य में पाया जाता है।

वैसे तो ये दार्शनिक अपनी परम्पराओं को ही ध्यान से देखें तो उसमें इन्हें ऐसी परम्पराएँ ढूँढने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए जो भारतीय दार्शनिक परम्पराओं से इस विषय में काफी हद तक मिलती-जुलती हैं। स्टोइक तथा 'एपिक्यूरियन' दार्शनिक सम्प्रदाय चेतना की उस स्थिति को सर्वश्रेष्ठ मानते थे जो या तो किसी भी अन्य चीज़ से प्रभावित न हो या सदैव सुखी या आनन्दमय रहे, और इस प्रकार की चेतना की प्राप्ति वे चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते थे। यही नहीं, यदि प्लेटो के दर्शन में परम पुरुषार्थ की बात करें तो वह भी उसी प्रकार का है, जैसा अनेक भारतीय दर्शनों में पाया जाता है। वास्तव में शुद्ध बौद्धिकता एक प्रकार से भ्रम ही है, क्योंकि बुद्धि को विचार के लिए कुछ विषय चाहिए जो अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यह अनुभव इन्द्रियों के द्वारा ही हो सकता है या आत्मनिरीक्षण से प्राप्त चित्त की अवस्थाओं से हो सकता है। इसके अलावा भी अनुभव के नये आयाम हैं जो हमें उन मानवीय कृत्यों के द्वारा प्राप्त होते हैं जो या तो स्वयं अर्थवत्ता लिए होते हैं या किसी ऐसे अन्य अर्थ की ओर इंगित करते हैं जो उनसे गहरे रूप में सम्बद्ध हैं। कला और साहित्य कुछ इसी प्रकार के होते हैं और अध्यात्म साधना के क्षेत्र में तो इसका प्रचुर बाहुल्य है ही। कहने का आशय

यह है कि 'अनुभव' अनेक प्रकार से होता है और बुद्धि इन सबको अपने चिन्तन का विषय बनाती है। कौन सा अनुभव अधिक महत्त्व का है यह एक प्रकार से संस्कृति-सापेक्ष और व्यक्ति-सापेक्ष दोनों होता है, और शायद यही दार्शनिक परम्पराओं के वैशिष्ट्य और वैभिन्न्य के मूल में है कि वे किस प्रकार के अनुभव को प्रधानता देती हैं।

पर जहाँ एक ओर बुद्धि अनुभव के अनेक आयामों पर चिन्तन करती है दूसरी ओर यह चेतना के स्वचेतन रूप पर भी विचार करती है और विचार का यह विषय दर्शन को कुछ अन्य दिशाओं में ले जाता प्रतीत होता है। इसके अलावा दर्शन का एक अन्य केन्द्र-बिन्दु वह है जिसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है पर जो वास्तव में दर्शन का वह मर्मस्थल है जिसके बगैर दर्शन 'दर्शन' कहलाने का अधिकारी ही नहीं होगा। वह बुद्धि द्वारा बुद्धि को उसके स्वचेतन रूप में देखना है। इससे जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं वे दृष्टि के लिए ऐसी दिशाएँ खोलती हैं जो उन समस्याओं से कहीं अधिक प्राणवान् और मूल्यवान् लगने लगती हैं और जिनको सुलझाए बगैर जीवन जीना वृथा प्रतीत होने लगता है। इसीलिए दार्शनिक कहलाने वाला, या समझा जाने वाला व्यक्ति कुछ ऐसी समस्याओं में उलझा प्रतीत होता है जो दूसरों को बिल्कुल बेमानी लगती हैं। बुद्धि का जो यह क्षेत्र है और इसकी जो समस्याएँ हैं उनके प्रति जो जागरूक नहीं है या जिसको इनमें आनन्द नहीं आता वह कभी भी दार्शनिक नहीं हो सकता। जिन संस्कृतियों ने दर्शन की व्यापक परम्पराओं को जन्म दिया है उनमें बुद्धि के इस स्वायत्त जगत् को न केवल स्वीकार किया गया है बल्कि उसको मनुष्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भी माना गया है। पर जहाँ इसने बौद्धिक जगत् को एक स्वायत्तता प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर इसने यह भी समस्या उत्पन्न की है कि उन अधिकांश लोगों को जो इस क्षेत्र को या तो बिल्कुल ही स्वीकार नहीं करते या इसको केवल व्यवहारिक साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं, उनको इसकी अर्थवत्ता कैसे समझायी जाये? अधिकांश मनुष्य तो बुद्धि का प्रयोग केवल साधन रूप में ही अपने विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति के लिए करते हैं जिनमें अधिकांश लक्ष्य अर्थ या काम पुरुषार्थों की कोटि में ही आते हैं। बहुत हुआ तो वे बुद्धि की इस स्वायत्तता में देखे गये अर्थों की समाज, राज्य, धर्म, भौतिक या व्यावहारिक ज्ञान आदि के सन्दर्भ में भी उपयोगिता मान लेते हैं, कुछ लोग आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसकी ज़रूरत कम से कम वहाँ तक स्वीकार कर लेते हैं जहाँ तक उन्हें दूसरों के मत का खण्ड़न करने की ज़रूरत पड़े या दूसरे मतावलम्बियों को गलत सिद्ध करने की आवश्यकता महसूस हो। पर, ये सब लोग बुद्धि को बुद्धि के जगत् में स्वतन्त्र रूप में साध्य और मूल्यवान् और सहज पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करने से अचकचाते हैं। यही कारण है कि शायद ही किसी संस्कृति ने बुद्धि के स्वतन्त्र पुरुषार्थ की चर्चा की हो। यह चर्चा उन संस्कृतियों में भी नहीं मिलती जिनमें बुद्धि का वैभव अपनी चरम

सीमा में रहा है या जहाँ दर्शन और दार्शनिकों की काफ़ी प्रतिष्ठा रही है। बेचारे दार्शनिक को इसलिए हमेशा यह कहना पड़ा है कि दर्शन उसका चरम साध्य न होकर केवल किसी अन्य पुरुषार्थ का साधन है। पर यह वास्तव में केवल कहने की बात है, क्योंकि यदि उसके लिए कोई अन्य पुरुषार्थ साध्य होता तो उसको इस सब पचड़े में पड़ने की ज़रूरत ही नहीं होती। तब वह सीधे-सीधे अर्थ, काम, यश, शक्ति, मोक्ष आदि के प्रलोभन में पड़कर उन्हें ही साधता। पर दार्शनिक तो दार्शनिक इसीलिए होता है कि उसे इस क्षेत्र में सहज आनन्द प्राप्त होता है, और उसकी इसी में सहज गति होती है। यदि आपको किसी दार्शनिक में ऐसा न लगे तो समझ लीजिए कि वह नकली दार्शनिक है या बेचारा ज़बरदस्ती दर्शन के क्षेत्र में धकेल दिया गया है, जैसाकि आजकल के अधिकांश विश्वविद्यालयों में दर्शन के अध्यापक होते हैं, जिनका बस चले तो वे दर्शन से एकदम छुट्टी ले लें।

वास्तव में अधिकतर लोग बुद्धि को साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं, साध्य के रूप में नहीं। अनेक लोग, जिनकी बौद्धिक क्षेत्र में कोई विशेष रुचि नहीं होती, वे भी अर्थ, काम, शक्ति आदि अर्जित करने के लिए बुद्धि का साधन के रूप में प्रयोग करते हैं और उसकी सफलता इस रूप में ही स्वीकार करते हैं कि वह इन सबको प्राप्त करने में सहायक होती है। वह व्यक्ति जो बुद्धि को केवल साधन के रूप में ही स्वीकार नहीं करता, बल्कि कुछ हद तक साध्य रूप में भी उसकी अर्थवत्ता को स्वीकार करता है, उसे बुद्धि को शुद्ध साधन के रूप में मानने वाले लोग कुछ-कुछ पागल-सा ही समझते हैं। एक प्रकार से देखें तो साधारण मनुष्य मात्र की समझ में आने वाले पुरुषार्थ केवल दो ही हैं जिनको परम्परागत विचार में अर्थ और काम का नाम दिया गया है। संस्कृतियों में इनके अतिरिक्त भी कुछ स्वत: सिद्ध मूल्य माने जाते हैं जिनका एक उदाहरण भारतीय संस्कृति में अध्यात्म के नाम से पहचाना जाता है, जिसके अनेक पर्यायवाची हैं जिनमें 'मोक्ष', 'निर्वाण, 'कैवल्य', 'नि:श्रेयस्', 'अपवर्ग' आदि सर्वविदित हैं। इसलिए यदि बुद्धि का प्रयोग अर्थ और काम के लिए न हो तो उसे अध्यात्म का साधन होना चाहिए, और अगर ऐसा नहीं है तो कुछ पागलपन ज़रूर है।

पर बुद्धि का भी अपना एक अलग क्षेत्र होता है और उसका भी अपना पुरुषार्थ होता है जो अधिकतर 'ज्ञान' की संज्ञा से इंगित किया जाता है। यहाँ 'ज्ञान' शब्द का अर्थ वह ज्ञान है जो अध्यात्म का विषय न होकर अन्य सब क्षेत्रों के सत्य की खोज को अपना विषय बनाता है। अधिकतर इसी प्रकार का ज्ञान अन्य लोगों के लिए साधन रूप में ही मूल्यवान् होता है, क्योंकि वे उसके द्वारा अपने लक्ष्य पाने में सफल होते हैं। यही नहीं, ऐसा ज्ञान तकनीक को जन्म देता है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि करते हैं और अपने जीवन को सफल मानते हैं। इसके विपरीत अधिकतर वे लोग, चाहे उनकी संख्या बहुत ही कम क्यों न हो, जो किसी ज्ञान को पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं, उन्हें उस ज्ञान के

प्रयोगात्मक पहलू के बारे में कोई विशेष रुचि नहीं होती। हालांकि आज सभ्यता ने जो नया रुख लिया है उसमें ज्ञान की खोज करने वाले अधिकांश लोग भी उसकी सार्थकता को उसकी व्यवहारोपयोगिता में देखने लगे हैं। यही नहीं, आज तो हर चीज़ अर्थ के तराजू पर तौली जाने लगी है और उससे कितना पैसा मिल सकता है, इसी से उसका मूल्य निर्धारित होता है। दर्शन ज्ञान को शुद्ध पुरुषार्थ रूप में मानने के समीप होते हुए भी उससे भिन्न है, क्योंकि यहाँ बुद्धि किसी विशिष्ट क्षेत्र के ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करती बल्कि ज्ञान के स्वरूप पर ही विचार करती है और अपने से यह पूछती है कि आखिर यह ज्ञान की प्रक्रिया क्या है और कोई ज्ञान सत्य है या नहीं इसका आधार क्या है और इसका निश्चय कैसे हो सकता है? यही नहीं, दर्शन में बुद्धि जीवन के समस्त क्षेत्रों और पक्षों के बारे में सोचती है, और उनमें निहित आदर्शों या मूल्यों पर चिन्तन करती है। वास्तव में तो दर्शन शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र है जहाँ बुद्धि मनुष्य के और जगत् के समस्त सम्बन्धों के ऊपर आत्मनिरीक्षण करती हुई उन सब समस्याओं को देखती है जिनसे मानव-चेतना ग्रसित और व्यथित दोनों रहती हैं। पर, बुद्धि को उनको देखने, समझने और सुलझाने की कोशिश करने में जो आनन्द आता है उसी का नाम दर्शन है।

इस तरह से देखें तो दर्शन एक प्रकार से मनुष्य का बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने वाला स्वरूप ही है और दर्शन का इतिहास मनुष्य की चेतना का बुद्धि के दर्पण में दिखाई देने वाला इतिहास है। परन्तु मनुष्य की इस चेतना का इतिहास एक ओर जहाँ उसकी संस्कृति के इतिहास में आबद्ध होता है वहीं दूसरी ओर मुनष्य के अनेकानेक आयामों के खण्ड़-खण्ड़ रूपों में भी बँधा दिखाई देता है। परन्तु मनुष्य केवल बौद्धिक प्राणी ही नहीं है। उसके और भी अनेक आयाम हैं जिनमें वह विभिन्न जगतों का सृष्टिकर्त्ता है और उन अपनी ही सृष्ट की हुई दुनियाओं में जीता है। उन सब विभिन्न सृष्ट जगतों के उपादान और माध्यम प्रत्यय या विचार होते हैं जिनका एक-दूसरे से सम्बन्ध तार्किक आधार पर पाया जाता है। साहित्य के जगत् का उपादान प्रत्यय न होकर बिम्ब होते हैं, हालांकि दोनों का माध्यम भाषा ही होती है और भाषा के बगैर उनकी संरचना असम्भव होती है। अन्य कलाओं के उपादान या माध्यम भाषा न होकर कुछ और होते हैं पर वे सब मनुष्य को मूल रूप में भाव-केन्द्रित ही मानते हैं और मनुष्य को भोक्ता रूप में ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। मनुष्य के सुख-दु:ख के आधार पर अनेकानेक भाव-जगतों की सृष्टि होती है जिसमें अभिनिवेश मुख्यत: रसास्वादन ही रहता है।

ज्ञान और भावना के अलावा मनुष्य कर्म-जगत् का भी प्राणी है जिसमें उसकी चेतना विषय को इस रूप में नहीं देखती कि वह क्या है या उससे उसे सुख-दु:ख होता है, बल्कि उसे इस सन्दर्भ में देखती है कि क्या वह वैसा है जैसा उसे होना चाहिए? एक प्रकार से वस्तु या विषय जो ज्ञात होता है वह सुख-दु:ख

का कारण भी होता है और चूँकि मनुष्य यह चाहता है कि सुख हो और दु:ख न हो, इसलिए वह जिस वस्तु से सुख होता है उसको बनाए रखना और जिससे दु:ख होता है उसे हटाना सहज रूप में चाहता है और उसके लिए प्रयत्न भी करता है। इसलिए बहुत से लोग यह मानते हैं कि कर्म केवल सुख पाने या दु:ख से बचने के लिए किया जाता है। परन्तु कर्म की उत्पत्ति को केवल सुख-दु:ख के सन्दर्भ में ही देखना मनुष्य के साथ अन्याय करना होगा क्योंकि कर्म का स्रोत केवल सुख-दु:ख न होकर एक ऐसी मूल्य-चेतना है जो मनुष्य को बार-बार इस बात से प्रेरित करती है कि वस्तुस्थिति वैसी नहीं है जैसा उसे होना चाहिए और इसके लिए वह कम से कम कुछ हद तक उत्तरदायी अवश्य है, क्योंकि उसमें उसे परिवर्तित करने की क्षमता है।

ज्ञान, भावना और कर्म के ये सब आयाम दर्शन में बुद्धि के विषय बनते हैं और मनुष्य की इन सब क्षेत्रों में जो सहज गति हाती है उस पर स्वचेतन प्राणी होने के नाते आदमी सोचता है और विचार करता है कि आखिर इन सबका सत् क्या है, स्वरूप क्या है और इनके आपस में सम्बन्ध क्या हैं? दर्शन में इस तरह से मनुष्य के सभी आयाम प्रतिबम्बित हाते हैं, लेकिन वैसे ही नहीं जैसे प्रथम स्तर पर ये मनुष्य को परिचालित करते हैं, बल्कि दूसरे स्तर के, जहाँ मनुष्य इन प्रथम स्तर की बातों पर एक अन्य सिरे से चिन्तन करता है। उसमें सहज भाव से प्रश्न करने की या सवाल उठाने की प्रवृत्ति होती है। आखिर यह सब क्या है और क्यों हो रहा है? क्या सब वैसा ही है जैसा कि होना चाहिए? मनुष्य की इस जिज्ञासा का नाम ही दर्शन है और विभिन्न संस्कृतियों में इस जिज्ञासा ने विशिष्ट रूप लिया है। पर चूँकि मानव मानव है और उसकी कुछ सहज प्रवृत्तियों और उसे जगत् की मूलभूत परिस्थितियों में कुछ साम्य है, इसलिए दर्शन की समस्याओं में कुछ-कुछ समानता और कुछ वैषम्य होना स्वाभाविक है, और ऐसा दर्शन में ही नहीं मनुष्य के सभी अन्य क्षेत्रों में मिलता है, और ऐसा मिलना एक तरह से उसके मनुष्य होने की पहचान ही है।

वैदिक परम्परा

भारतीय दर्शन या दार्शनिक चिन्तन की वह प्रक्रिया जो भारत में लगातार कम से कम तीन हजार वर्षों से विकसित हुई है उसका मूल उस सभ्यता में है जो सिन्धु नदी की घाटी में फैली हुई थी और जिसका पता इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही मिला था। 1924 के आसपास इसका पहले पता लगा था और तब से आज तक अनेक खोजों के बावजूद इसमें जो लेख मिलते हैं वे अभी तक सही रूप में पढ़े नहीं जा सके हैं। कोशिश अभी तक जारी है पर उसमें कहाँ तक सफलता मिल पाएगी यह कहना मुश्किल है। परन्तु जहाँ इस क्षेत्र में कोई विशेष सफलता नहीं मिली है वहीं दूसरी ओर इस सभ्यता का विशाल विस्तार और इसकी अनेक क्षेत्रों में व्यापक कार्यकुशलता अधिकाधिक पता चली है। पर अचम्भे की बात तो

यह है कि जहाँ एक ओर यह संस्कृति अपने अनेक आयामों में बहुत कुछ कहती प्रतीत होती है, इसकी लिपि अब तक पढ़ी नहीं जाने के कारण यह एक प्रकार से उस गूँगे व्यक्ति के समान है जो बहुत तरह से अपने को अभिव्यक्त करता है पर जिसकी बात दूसरों की समझ में कम ही आती है। इससे शायद बड़ा उदाहरण कम ही मिलेगा यह बताने के लिए कि भाषा किसी भी संस्कृति को समझने में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है और जिसको समझे बगैर हम मनुष्य को समझ ही नहीं सकते। यह नहीं है कि इस सभ्यता ने अनेकानेक अन्य चीज़ें नहीं छोड़ी हैं। चित्र हैं, विशाल नगर हैं, समुद्र पर बन्दरगाह हैं, खाने-पीने के सामान हैं। एक तरह से सब कुछ है, पर वह सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं-सा है, और इसलिए यह मानते हुए कि भारत में जो कुछ भी आज है उसका मूल इस सभ्यता में ज़रूर होगा, इसके आगे या इसके अलावा कुछ और कहना मुश्किल होता है। इस सभ्यता का युग ईसा के तीन हजार या अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व के करीब माना जाता है। इस सभ्यता के व्यापारिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध उसी काल की अन्य सभ्यताओं से पाये जाते हैं। पर भारतीय दर्शन के इतिहास की दृष्टि से तो हमें तब तक इन्तजार ही करना पड़ेगा जब तक इसमें लिखी हुई लिपि को कोई समझ पायेगा या समझ पाने का तरीका पता लगा सकेगा।

पर जहाँ इस विशाल नागरिक या नगर-केन्द्रित सभ्यता का पता लगता है वही भारत ही नहीं विश्व के सबसे पुराने संग्रहीत हुए ग्रन्थ, जिनको वेद कहा जाता है, या जिनमें वह मुखर है और उनको भारत में कम से कम तीन-साढ़े तीन हजार साल से सुरक्षित रखा गया है, अपने उस शुद्ध मौखिक रूप में जैसे कि वे शुरू में थे। उनको समझना-समझाना कितना ही कठिन क्यों न हो पर उनके बारे में वह समस्या नहीं है जो मोहनजोदड़ो की लिखी हुई मोहरों (सील) के बारे में है। उनमें भारतीय दर्शन की मूल प्रवृत्ति सहज और सजग रूप में मिलती है। वास्तव में ये कवियों और मनीषियों की रचनाएँ हैं। जहाँ एक ओर इनके रचयिता इस पर गर्व करते हैं कि उन्होंने इन मंत्रों को कविता के रूप में रचा है वहीं दूसरी ओर उनको यह भी सतत् महसूस होता है कि असल में वे इसके रचनाकार नहीं हैं, केवल माध्यम मात्र हैं, और कोई पराशक्ति उनके द्वारा सत्य को उद्भासित या उद्घोषित कराती है। यह बात कोई अजीब नहीं है। न इन दोनों में कोई विरोध ही है। प्रत्येक रचनाकार यह जानता है कि कोई पराशक्ति उसको कुछ देती है, उसके माध्यम से कुछ अभिव्यक्त करती है और वास्तव में वह केवल एक निमित्त मात्र है। मनुष्य की दुविधा ही यह है कि उसको प्रयत्न तो करना पडता है, पर जो कुछ भी वह करता है वह उसका किया नहीं होता, पर उसके द्वारा किया हुआ होता है। जो भी हो, वह सब जिसे आज 'वेद' कहते हैं और मोहनजोदड़ो की सभ्यता, ये दोनों हमारी संस्कृति में एक ही तरह से व्याप्त हैं, पर एक मुखर है ओर दूसरा मूक।

वेद के बारे में पहली समझने की बात तो यह है कि ये सब एक साथ ही रचित नहीं हुए थे, न एक व्यक्ति के द्वारा ही रचे गए। कहने का अर्थ यह है कि चाहे हम उनको मनुष्य द्वारा रचित या जिसको संस्कृत में पौरुषेय कहते हैं वैसा, या मनुष्य के द्वारा रचित न होकर केवल उसके माध्यम से प्रकाशित चिरंतन सत्य-रूप मानें, दोनों अवस्थाओं में वे कुरान की तरह किसी एक ही व्यक्ति के माध्यम से प्रकाशित या रचित नहीं हुए। उनके लिखने वाले अनेक ऋषि हैं जिनके नाम स्वयं वेदों में दिये हुए हैं, और उनमें बहुत से जिन गोत्रों के वे ऋषि थे वे गोत्र आज भी भारत में पाये जाते हैं। वशिष्ठ, भारद्वाज गोत्र आदि इसी प्रकार के हैं। दूसरी ओर, इनके रचनाकार एक ही समय के मालूम नहीं होते बल्कि इनकी रचनाओं में अन्तराल कई विद्वान हज़ार से भी ज्यादा वर्ष का मानते हैं। कहने का अर्थ यह है कि जो रचनाएँ या मंत्र वेद के नाम से जाने जाते हैं वे सुदीर्घ कालावधि में रचे गए और यह काल इतना लम्बा था कि इसमें किसी एक स्रोत को ढूँढ़ना असम्भव ही माना जाएगा। एक तरह से यह बात हर उस रचना के लिए सत्य होती है जिसके होने में बहुत काल बीतता है, फिर चाहे वह रचना पौरूषेय हो या अपौरूषेय। कुरान की आयतें मोहम्मद साहब ज़िन्दगी के अनेक वर्षों में उनके माध्यम से प्रकाश में आई। यह बात स्वीकार करते ही सवाल उठता है कि आखिर इतने लम्बे समय में जो बात कही गई थी उसमें एकवाक्यता कहाँ तक है? ईसा ने जो कहा उसके बारे में तो समस्या और अधिक है, क्योंकि जहाँ तक बाईबिल के नए टेस्टामेन्ट का सवाल है उसमें तो ईसा के चार शिष्यों ने उनके जीवन की घटनाओं का विवरण दिया है और जो उन्होंने विभिन्न अवसरों पर कहा उसका संकलन किया है। यह बात एक आदमी की न होकर चार आदमियों की है और उन लोगों ने मोहम्मद की तरह तो उनका वर्णन नहीं किया जब वे घटी थीं, बल्कि ईसा की मृत्यु के बाद उन्हें स्मृति से संकलित किया। एक तरह से यही बात भगवान बुद्ध और महावीर के वचनों के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि उनके वचनों का संकलन भी उनके शिष्यों ने ही किया और यह संकलन तो उनकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद किया गया। एक फर्क ज़रूर है, ऐसा कहा जाता है कि भगवान बुद्ध और महावीर के शिष्य जो भी वे कहते थे उसको उसके तुरन्त बाद ही उसी को दोहराते थे और एक प्रकार से उन्होंने उसको उसी रूप में याद रखने की अनेक विधियाँ खोजीं और अपनाई थी। परन्तु प्रारम्भ से ही इसके बारे में उनमें कुछ कठिनाई तो थी ही, इसलिए बाद में उनके शिष्यों में बार-बार कुछ विवाद हुआ। पर अगर ऐसा न हो तो भी अपने लम्बे जीवनकाल में बुद्ध और महावीर ने जो कहा उसमें एकवाक्यता की तलाश तो तलाश ही होगी। वह कहाँ तक मिल पाएगी, या मिल भी सकती है या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न ही रहेगा।

वेदों के बारे में भी यही बात सच है। ऐसा कहा जाता है कि वेदों को उसके मूल रूप में रखने के लिए याद रखने की अनेक विधियाँ अपनायी गईं और इन विधियों के द्वारा प्रत्येक मंत्र का वर्ण-पाठ और स्वर-पाठ जैसा शुरू में था वैसा ही उसे सुरक्षित रखने की कोशिश की गई और यह काम वेदों की अनेक शाखाओं के जिम्मेदार लोगों पर छोड़ा गया। आज भी जब आप द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी नाम सुनते हैं तो उससे कुछ-कुछ ऐसा ही आभास होता है कि ये दो-तीन-चार वेदों के याद करने वाले हैं या ठीक तरह से कहें तो ये उस कुल की परम्परा में हैं जिसके पूर्वज कभी इस प्रकार से वेदों की मौलिक रूप से रक्षा करते थे। एक तरह से यह बात भी उतनी ठीक नहीं है जितनी प्रथम दृष्टि में नज़र आती है, क्योंकि एक तो इसमें खाली किसी एक वेद को जानने वाले की चर्चा नहीं है और दूसरी यह इस भ्रान्ति पर आधारित है कि वेद केवल चार हैं, हालांकि यह भ्रान्ति काफी व्यापक है। क्योंकि किसी से भी पूछिए तो वह यही कहता है कि चार वेद होते हैं—ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद। पर जो लोग यह कहते हैं उनसे यदि आप पूछें कि यजुर्वेद क्या है तो वे आपको यजुर्वेद जैसे किसी एक ग्रन्थ को नहीं बता पायेंगे। जो भी ग्रन्थ यजुर्वेद के नाम से उन्हें पता है वह या तो शुक्ल यजुर्वेद होगा या कृष्ण यजुर्वेद। और हालांकि दोनों 'यजुर्वेद' के नाम से जाने जाते हैं परन्तु ये एक-दूसरे से काफी भिन्न ग्रन्थ हैं, हालांकि उनके भेद को केवल यह कहकर अक्सर टाला जाता है कि एक में मंत्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित हैं जबकि दूसरे में वे अलग-अलग मिलते हैं पर यह बात सच होते हुए भी पूर्ण रूप से इनके भेद को ठीक-ठीक नहीं बताती। 'यजुर्वेद' कहे जाने वाले इन दोनों वेदों में जो मंत्र हैं वे सब एक से ही नहीं हैं। अगर, दोनों के मन्त्रों की तुलना, करें तो बहुत से ऐसे मंत्र हैं जो केवल एक में पाए जाते हैं दूसरे में नहीं। इन मंत्रों की संख्या इतनी अधिक है कि वास्तव में उनको दो स्वतन्त्र ग्रन्थ मानना अधिक ठीक होगा। यही नहीं, ये एक ही वेद की दो शाखाएँ भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें से प्रत्येक की स्वतन्त्र शाखाएँ भी हैं। यदि हम कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता को लें और उसकी शुक्ल यजुर्वेद की वाजनसनेयी संहिता से तुलना करें तथा कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण भागों और शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण की तुलना करें तो यह स्पष्ट होता है कि कृष्ण यजुर्वेद के बहुत से मंत्रों का ब्राह्मण भाग शुक्ल यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में नहीं मिलता। तैत्तिरीय संहिता के कुल 761 मंत्र और ब्राह्मण में से केवल 392 ही वाजसनेयी संहिता और शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। यदि हम ब्राह्मण भाग को छोड़ दें (अलग कर दें) तथा केवल दोनों के उस मंत्र भाग की ही विवेचना करें जो समान हैं तो उनकी संख्या बहुत कम होगी। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के कुल मंत्रों की संख्या 3988 है जबकि कण्डिकाओं का योग 1975 है। इसके विपरीत कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मण भाग का कुल योग 651 ही है। अत: केवल मंत्रों की कण्डिकाओं की संख्या निश्चित रूप से और भी कम होगी। अत: यजुर्वेद की

दोनों शाखाओं : कृष्ण और शुक्ल के मंत्रों में किसी समानता की सम्भावना और कम हो जाती है। कहने का अर्थ यह है कि दोनों ग्रन्थ जो यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनको सारे लोग एक ही वेद मानते हैं उनमें जमीन-आसमान का फर्क है। वास्तव में उनको भिन्न-भिन्न वेद ही मानना चाहिए। शुक्ल यजुर्वेद में कृष्ण यजुर्वेद से बहुत अधिक मंत्र हैं। इस सम्बन्ध में एक और ध्यान देने की बात है जिस पर प्रसिद्ध वेद-विद्वान गोंडा ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उसके अनुसार शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में कालक्रम में बहुत सी चीज़ें बाद में जोड़ी गईं। वास्तव में तो शुरू के 28 अध्याय ही ऐसे हैं जो शुक्ल यजुर्वेद के पुराने कहे जाने वाले भाग में मिलते हैं। यही नहीं, इन्हीं पर शतपथ ब्राह्मण के पहले नौ अध्यायों में चर्चा हुई है। पर अगर गोंडा की बात ठीक है, और उस पर अविश्वास करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता, तो वाजसनेयी संहिता के चालीस अध्यायों में से बाईस अध्याय ऐसे हैं जो बाद में जोड़े गए हैं और जिनके ऊपर उस संहिता के ब्राह्मण में कोई विशेष चर्चा नहीं की गई है, फिर इस शुक्ल यजुर्वेद की संहिता को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन एक ही समझे जाने वाले वेदों को वास्तव में अलग-अलग मानना होगा। यही नहीं, जहाँ तक सामवेद का प्रश्न है उसक बारे में तो अक्सर लोग यह मानते और जानते हैं कि उसके अधिकांश मंत्र ऋग्वेद से ही लिए गए हैं। किन्तु अगर ऐसा है तो मंत्र की दृष्टि से उसको अलग वेद मानने का औचित्य ही क्या होगा? ऋग्वेद के मंत्र केवल सामवेद में ही नहीं बल्कि और वेदों में भी वैसे के वैसे पाये जाते हैं, और अगर ऐसा है तो फिर इन मंत्रों को इन वेदों का भाग कैसे माना जाए? अगर हम ऋग्वेद को ही आदि वेद रूप में स्वीकार करें तो उन्हीं मंत्रों के बार-बार अलग-अलग वेदों में पाये जाने पर जो समस्या उत्पन्न होती है वह समस्या एक प्रकार से स्वयं ऋग्वेद पर लागू होती है, क्योंकि ऋग्वेद में स्वयं ही अनेक मंत्र बार-बार दोहराए गए हैं, जैसा कि ब्लूमफील्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **ऋग्वेदिक रेपिटीशंस्** में दिखाया है।

इसके अलावा एक दो और बातें भी ऐसी हैं जिन पर, 'वेद क्या है' इसकी चर्चा के सन्दर्भ में ध्यान देना उचित होगा। पहली बात तो प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाओं की है। वास्तव में एक ही वेद जो विभिन्न शाखाओं के रूप में मिलता है, वह इस प्रकार का नहीं है कि उसको एक ही माना जाये, हालांकि शाखा कहने पर ऐसा प्रतीत अवश्य होता है। यदि हम उदाहरण के लिए कृष्ण यजुर्वेद को ही लें तो उसमें केवल तैत्तिरीय संहिता ही नहीं है जिसकी हमने अब तक चर्चा की है, इसकी अन्य संहिताएँ भी हैं जो काठक, कपिष्ठल और मैत्रायणी संहिताओं के नाम से जानी जाती हैं। यदि हम इन चारों को ही कृष्ण यजुर्वेद की शाखा मानें तो उन सबको एक ही वेद की शाखा मानने में कठिनाई अवश्य स्पष्ट दिखाई देगी। अगर हम इनको एक-दूसरे से मिलाकर देखें तो तैत्तिरीय संहिता सात काण्डों में

बँटी हुई है और प्रत्येक काण्ड में प्रपाठक हैं जिनका विभाग अनुवाकों में किया गया है। इनमें मंत्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित हैं। काठक संहिता में इसके विपरीत केवल स्थानक हैं जिनकी संख्या 40 है और इनकों अनुवाकों में बाँटा गया है जिनमें मंत्र हैं। कपिष्ठल संहिता, जो कुछ लोगों के अनुसार काठक लोगों की ही हैं, उसके 47 अध्याय हैं जिनमें से अनेक मिलते हैं। मैत्रायणी संहिता में कुल चार काण्ड हैं जिनके अपने प्रपाठक और अनुवाक हैं और जिनमें मंत्र दिये हुए हैं। इस प्रकार प्रथम दृष्टि में ही कम से कम इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन संहिताओं के, जो कृष्ण यजुर्वेद की शाखा मानी जाती हैं, प्रारूप भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु यही नहीं, इनमें मंत्रों और अनुवाकों की अनुपूर्वी भी अलग-अलग हैं। अगर हम कीथ का दिया हुआ उदाहरण लें तो तैत्तिरीय संहिता की 651 कण्डिकाओं में से काठक संहिता में केवल 490 मिलती हैं, मैत्रायणी में केवल 417 और कपिष्ठल में सिर्फ 229। इस प्रकार काठक में तैत्तिरीय संहिता से 161 कण्डिका कम हैं, जबकि मैत्रायणी में उनकी संख्या 234 और कपिष्ठल में 422 कम हैं। अगर दोनों में इतना भेद है तो फिर इन्हें एक ही वेद की शाखाएँ कैसे माना जा सकता है? गोंडा ने तो यहाँ तक कहा है कि वास्तव में हमारे पास मूल यजुर्वेद संहिता है ही नहीं और चूँकि आज उपलब्ध शाखाओं में इतना भेद है, हम उनके आधार पर उसका पुनर्गठन भी नहीं कर सकते, केवल कुछ अध्यायों को छोड़कर जिनका सम्बन्ध अश्वमेध से है। असल में अगर हम इस बात पर ध्यान दें कि प्रत्येक वेद के कालक्रम में अनेक शाखएँ बनती रहीं तो यही इस बात का प्रमाण है कि उस काल के ऋषियों ने वेद को उस प्रकार से नहीं देखा था जिस प्रकार से आज हम देखते हैं, यानि उसमें कुछ घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। अगर हम प्रचलित धारणा में विश्वास करेंगे तो यजुर्वेद की 101 शाखाएँ मानी जाती हैं, सामवेद की 1000, अथर्ववेद की 9 और ऋग्वेद की 21। यह ठीक है कि बहुत-सी शाखाओं के ग्रन्थ आज मिलते नहीं हैं, परन्तु पतंजलि के समय में वेदों की शाखाओं के बारे में इस प्रकार की बात प्रसिद्ध थी और उससे ही यह सिद्ध होता है कि उसके काल में वेदों के बारे में जो मान्यता थी वह आज की मान्यता से मूलत: भिन्न थी।

शाखा-भेद से जो संहिता-भेद उत्पन्न होता है उसकी ओर अभी तक ध्यान कम ही दिया गया है, क्योंकि उस ध्यान देने से, जिसे हम श्रुति कहते हैं उसके प्रामाण्य के बारे में अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका निराकरण असम्भव-सा लगता है। किन्तु परम्परा में जो लोग इस ओर ध्यान नहीं देते उन लोगों की यह तो समस्या है ही कि चारों संहिताओं में आपस में क्या सम्बन्ध है? क्योंकि यह तो सर्वविदित ही है कि सामवेद में उसका अपना कोई स्वतन्त्र मंत्र नहीं है, और जहाँ तक अथर्ववेद का प्रश्न है, अन्य तीन वेदों की अपेक्षा उसका स्थान अन्य तीनों वेदों से कम ही माना जाता है। आज भी, अगर हम गोंडा की बात को

सच मानें तो, भारत में कुछ स्थानों पर वेदपाठी ब्राह्मण अथर्ववेद के मानने वाले ब्राह्मणों से शादी का व्यवहार नहीं करते। यह अपने-आप में इतनी हास्यास्पद बात है कि मूल वैदिक संहिता को मानने और जानने वाले ब्राह्मण स्वयं में ही इतना भेद करें और अपने में ही ऊँच-नीच का इस हद तक व्यवहार करें कि आपस में विवाह आदि करना अच्छा नहीं मानें। इस बात से श्रुति में शामिल होने वाले वेदों की महिमा कैसे अक्षुण्ण रह सकती है?

वेद की समस्या खाली संहिताओं तक ही सीमित नहीं है, हालांकि उनके सम्बन्ध में जो हमने ऊपर कहा है उससे गहरी समस्या मंत्र को लेकर है जो वेद का प्राण ही समझा जाता है। मंत्र का क्या लक्षण दिया जाये, किसको मंत्र कहा जाये, इस बारे में सहमति नहीं है। सायण ने, जो वियजनगर राज्य के प्रसिद्ध विद्वान थे, इस प्रश्न पर गहरा विचार करके अपना अन्तिम मन्तव्य भी यही दिया था कि वास्तव में मंत्र का कोई लक्षण दिया ही नहीं जा सकता, क्योंकि जो भी लक्षण दें उसमें या तो अतिव्याप्ति दोष होगा या अव्याप्ति दोष। कहने का मतलब यह कि कोई भी लक्षण मानने या बनाने पर या तो ऐसे वाक्यों को मंत्र कहना पड़ेगा जो मंत्र हैं ही नहीं, या जो स्पष्ट रूप में मंत्र हैं उनमें से भी बहुतों को मंत्र की कोटि से हटाना पड़ेगा। अपने प्रसिद्ध ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में उन्होंने इस पर गहरा विचार करके आखिर में यही कहा कि जिसे याज्ञिक मंत्र कहते हैं वही मंत्र है। पर यह तो हार मानने जैसी बात हुई, समस्या का कोई निराकरण नहीं हुआ। इससे तो श्रुति के मूल पर ही आघात होता है और ऐसा लगता भी है, क्योंकि संहिताओं के अलग-अलग सम्पादित किये हुए ग्रन्थों को देखने पर पता चलता है कि उसमें दिये गए मंत्रों की संख्या एक ही नहीं है बल्कि भिन्न-भिन्न है और यह भेद इसी कारण उत्पन्न होता है, क्योंकि हम, किस स्थान पर एक मंत्र समाप्त हुआ है और दूसरा मंत्र प्रारम्भ, इसका निश्चय नहीं कर पाते और सम्पादक, जिसने सम्पादन किया है उसने अपनी मर्जी से ही यह फैसला किया है कि मंत्र का कहाँ प्रारम्भ समझा जाए और कहाँ समाप्ति। इससे जो समस्या उत्पन्न होती है उसके बारे में परम्परा में कोई विशेष चर्चा हुई प्रतीत नहीं होती और आज भी करीब-करीब वैसी ही बात है, क्योंकि विद्वान लोग अधिकतर ऐसी बातों की चर्चा करने से कतराते हैं जिनसे किसी संस्कृति की मूल मान्यताओं पर भी गहरा आघात होता है; पर समस्या केवल संहिताओं की ही नहीं है, वह तो ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों तक में भी है।

पहली समस्या तो यह है कि जो ग्रन्थ ब्राह्मण, आरण्यक या उपनिषदों के नाम से जाने जाते हैं, उनमें कोई स्पष्ट भेद करना कठिन है, क्योंकि बहुत से ग्रन्थ एक से अधिक कोटि में परम्परा द्वारा ही रखे जाते हैं, जैसे जैमिनी ब्राह्मण-उपनिषद् या बृहदारण्यक उपनिषद्, जिनके नाम में ही ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों सम्मिलित हैं। इसी तरह से कुछ ग्रन्थ, जो शुद्ध रूप में ब्राह्मण

समझे जाते हैं, उनमें अनेकों चर्चाएँ इस प्रकार की हैं जो उपनिषदों में मिलती हैं। मिसालं के तौर पर, जैमिनीय ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य से अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं जो कुछ-कुछ वैसे ही हैं जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलते हैं। यही नहीं, बहुत सारे उपनिषद् वास्तव में संहिताओं या किसी ब्राह्मण या आरण्यक के ही भाग हैं जिन्हें अलग करके उपनिषद् का नाम दे दिया गया है। ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यक का ही एक हिस्सा है और यही बात कई अन्य उपनिषदों के बारे में भी सही प्रतीत होती है। ईशोपनिषद्, जैसा सर्वविदित है, शुक्ल यजुर्वेद का ही भाग है। इस प्रकार से उपनिषद् वास्तव में एक संकलन हैं जो किसी न किसी समय ब्राह्मणों, आरण्यकों या संहिताओं से अलग किये गए, परन्तु अधिकांश लोग आज उनको स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। यदि हम उन ग्रन्थों को देखें जिनमें से वे संकलित किये गए हैं तो कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि संकलनकर्त्ता ने उन अंशों को जानबूझकर छोड़ दिया है जो मूल ग्रन्थ में अपने को उपनिषद् के नाम से कहते हैं। ऐतरेय उपनिषद् के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है, क्योंकि ऐतरेय आरण्यक का वह अंश जो अपने को विशिष्ट रूप से उपनिषद् कहता है उसको संकलनकर्त्ता ने ऐतरेय उपनिषद् में जानबूझकर शामिल नहीं किया और कुछ अन्य अंशों को, जिन्हें वहाँ उपनिषद् कहने की बात ही नहीं उठती, उनको ऐतरेय उपनिषद् के नाम से जाने जाने वाले ग्रन्थ में शामिल किया गया है।

उपनिषद् कहे जाने वाले ग्रन्थों के बारे में तो एक और भी समस्या है जिसकी ओर विद्वानों ने बहुत कम ही ध्यान दिया है और वह यह कि उपनिषद् कहे जाने वाले ग्रन्थ करीब-करीब 13वीं शताब्दी तक लिखे जाते रहे हैं, जिसका आशय यही है कि परम्परा में किसी ग्रन्थ को उपनिषद् की कोटि में रखे जाने वाले ग्रन्थों पर कोई पाबन्दी नहीं थी और जिसकी भी मर्जी आयी थी वह उपनिषद् की रचना कर सकता था और इस पर किसी को कोई विशेष आपत्ति नहीं थी। यह बात उन लोगों के लिए और भी परेशान करने वाली हो सकती है जो उपनिषदों को श्रुति की कोटि में ही नहीं रखते बल्कि उनको वेद के संहिता भाग से भी अधिक महत्त्व देते हैं।

उपनिषदों को ही श्रुति के रूप में स्वीकार करने वाली परम्पराओं के सामने अनेक प्रश्न उठते हैं। पहला तो यह कि किन उपनिषदों को श्रुति का अंग माना जाये, क्योंकि उपनिषदों की संख्या 108 तक मानी जाती है और इनमें से कुछ उपनिषद् तो 13 शताब्दी तक लिखे गए हैं। इन उपनिषदों के लिखने की परम्परा से ही ऐसा मालूम होता है कि उपनिषदों को श्रुति का स्थान सबको स्वीकार्य नहीं था, वरना लोग उपनिषद् नामक ग्रन्थ क्यों लिखते रहते? और ऐसा भी नहीं मालूम होता कि इस लेखन के खिलाफ कोई जोरदार आवाज उठाई गई हो। यह बात इस सन्दर्भ में और भी महत्त्व की जान पड़ती है कि यह तो आश्चर्य की बात रहेगी कि

आचार्य शंकर के बाद भी कम से कम 600 साल तक उपनिषद् लिखे जाते हैं और उनकी गणना उपनिषदों में की जाती रही है।

इन सब तथ्यों से कम से कम इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वेद को भारतीय दर्शन का आदि मूल ग्रन्थ मानने वाले लोगों ने इन बातों पर अधिक ध्यान नहीं दिया और इससे जो समस्याएँ उत्पन्न होने वाली हैं उनकी ओर अपने पाठकों को एक तरह से या तो पूर्णरूपेण अनभिज्ञ रखा है या गुमराह किया है। ज़रूरत इस बात की है कि वेदों के नाम से अभिहित होने वाले ग्रन्थ-परिवार नये सिरे से सम्पादित किये जाएँ और उनको ऐसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाए जिसमें कालक्रम और विषयवस्तु दोनों का विचार सम्मिलित हो। पर जब तक ऐसा नहीं होता तब तक ऐसी कुछ बातें तो साफ हैं ही जो उन दृष्टियों से सम्बन्धित हैं जिन्होंने एक प्रकार से भारतीय संस्कृति को दिशा दी है और जो इस तरह से भारतीय दर्शन के मूल में भी काफी हद तक व्याप्त मानी जा सकती है।

पहली बात जो किसी भी मूल संहिता को पढ़ने वाले को आश्चर्य में डाल देती है वह है वेद का खुलापन और उसका स्वतन्त्र चिन्तन। ऋग्वेद के 10वें मण्डल में ऐसे कई प्रसिद्ध स्थल हैं जो किसी को भी आश्चर्यचकित किये बगैर नहीं रह सकते। 'नासदीय' सूक्त को ही लें! ज़रा सोचिये कि वह यह बात पूछता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से पहले क्या था; सत् या असत्? पर वेद का ऋषि जो इस प्रकार का चिन्तन कर रहा था उसे सहज रूप में यह लगा कि न तो हम उसको सत् कह सकते हैं और न असत्, क्योंकि उसे सत् कहने पर तो यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि के पहले भी कुछ था! पर हम तो सृष्टि के प्रारम्भ की ही बात कर रहे हैं, इसलिए ऐसा कैसे कहा जा सकता है? लेकिन इसलिए क्या उसे असत् कहा जा सकता है? ऐसा भी कहना मुश्किल है, क्योंकि उसमें सृष्टि को उत्पन्न करने की क्षमता तो माननी ही पड़ेगी! इसलिए वेद का ऋषि कहता है कि न वह सत् है और न असत्, या कम से कम हम उसको इन कोटियों में नहीं रख सकते। इस प्रसिद्ध ऋचा का अन्त तो और आश्चर्य में ड़ाल देने वाला है, क्योंकि वह यह कहकर समाप्त होता है कि जो सत्-असत् के परे है या जिसको हम परम सत् कह सकते हैं, शायद वही जानता होगा कि सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व क्या था! पर इतना कहने के बाद ऋषि अपने चिन्तन को यह कहकर समाप्त करता है कि शायद वह भी नहीं जानता। जरा सोचिए कि एक मूल श्रुति के रूप में माने जाने वाले ग्रन्थ में इस प्रकार का चिन्तन हो, और यह बात कि भाषा उस चरम सत् के बारे में जो भी कहेगी वह अपूर्ण ही नहीं बल्कि भ्रम पैदा करने वाला भी होगा, भारतीय मानस में इतना गहरा पैठ चुका है कि आज भी वह चरम सत् के बारे में किसी भी वर्णन को लक्षणा या व्यंजना के रूप में ही मानता है, अभिधा के रूप में नहीं, और सारे लक्षण उसे, जैसा हम बाद में देखेंगे, तटस्थ रूप में ही स्वीकार्य होते हैं।

'नासदीय सूक्त' कोई अकेला नहीं है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम्' से प्रारम्भ होने वाली ऋचा में भी वही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है कि हम किस देवता को हवि दें, या किसकी आराधना करें, या किसकी पूजा करें? यह प्रश्न उठाने वाला ऋषि भी कुछ-कुछ वैसा ही सोचता लगता है जैसा सृष्टि के प्रारम्भ के पहले क्या था, यह जानने की चेष्टा करने वाला ऋषि। यह ठीक है कि पहले ने अपने चिन्तन का अन्त एक चरम प्रश्न चिह्न के साथ समाप्त किया था, दूसरे ने एक निश्चित उत्तर देने की कोशिश की और यह कहा कि जो प्रजापति है उसको हमें हवि देनी चाहिए या उसकी आराधना या पूजा करनी चाहिए। पर अगर हम सोचें कि प्रजापति का अर्थ क्या है तो ऐसा लगेगा कि दूसरे ऋषि भी कुछ बहुत अलग बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि प्रजापति का अर्थ यह होता है कि जो प्रजा, यानि सृष्ट है, या जो सृष्टि है उसका कर्त्ता, यानि वही जिसे न सत् से इंगित किया जा सकता है, न असत् से। पर एक भेद अवश्य है। नासदीय सूक्त का ऋषि जानना चाहता है। वह दार्शनिक है, उसके मन में दर्शन का आदि स्रोत है, क्योंकि यदि जिज्ञासा नहीं हो तो दर्शन नहीं हो सकता और शंका/सन्देह न हो तो भी दर्शन नहीं हो सकता। इससे भिन्न दूसरा ऋषि जानना नहीं चाहता, वह तो यह पता लगाना चाहता है कि हम किसकी आराधना करें? किसकी पूजा करें या किसको हवि दें, और वह इस बात की ओर इशारा करता है कि मनुष्य में केवल जानने की इच्छा ही नहीं है, बल्कि यह भी है कि वह अपने को किसके लिए समर्पित करें, या कोई जो उससे भी परे है उसके प्रति जो कुछ उसके पास अच्छा है, शिव है, सुन्दर है उसे उसके चरणों में समर्पित करें! और यह भावना उतनी ही बलशाली है जितनी जानने की। दोनों को मिलाकर ही मनुष्य सम्पूर्ण बनता है। पर केवल इन दोनों से ही काम नहीं चलेगा, क्योंकि मनुष्य का एक पक्ष क्रियापरक या कर्मपरक भी है जिसकी चर्चा हम करेंगे, पर इस सन्दर्भ में यह जो समर्पण करने की भावना है उसका अन्त कम से कम सन्देह या शंका में नहीं हो सकता। इसका उत्तर तो वही होगा जो ऋषि ने दिया था। जो भी है, और कुछ तो है ही, उसी के प्रति हम अपना समर्पण करें। कोई यह कह सकता है कि हवि की बात केवल पूजा-आराधना ही नहीं है, शुद्ध समर्पण की नहीं है, बल्कि कुछ ऐसा देने की बात है जिसके बदले में मनुष्य उस परम शक्ति से कुछ चाहता है। यह ठीक भी है। वेद में वर्णित अनेकानेक यज्ञ अनेक ऐसी वस्तुओं की प्राप्ति के लिए बताए गए हैं जो मनुष्य की सुख-सुविधा से सम्बन्धित हैं। पर यह सब ठीक होते हुए भी यह भी उतना ही ठीक है कि मनुष्य के गहरे से गहरे प्रश्न में एक उस चरम सत् से सम्बन्ध स्थापित करने की लालसा है जो विश्व के पीछे या परे प्रतीत होता है, और काफी हद तक ऋषि का चिन्तन उसकी ओर इशारा करता है। और फिर आदमी माँगे भी तो किससे? जो चरम रूप में उसका स्रष्टा है, जिसको वह माता-पिता कहकर सम्बोधित करता है, उसी से तो माँगेगा? तो इस गौण अर्थ में ऐसी कोई खास गलती नहीं है। दोनों ही तरह

से 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' मनुष्य की लौकिक और पारलौकिक दोनों ही तरह की ज़रूरतों की ओर इशारा करता प्रतीत होता है।

शुद्ध जिज्ञासा, जो मनुष्य को यह सवाल उठाने पर मजबूर करती है कि आखिर यह जो निरन्तर परिवर्तनशील सृष्टि है, उसके मूल में क्या है, और उन भावनाओं के अतिरिक्त जो मनुष्य की चेतना में उस अचिन्तनीय विराट का आभास पाने पर उदित होती है, कर्म करने की ऐसी प्रबल प्रवृत्ति भी है जिस पर चिन्ता का मूल भी हमें वेदों में मिलता है। कर्म पर चिन्तन शायद सबसे अजीब चीज़ है, क्योंकि कम से कम ज्ञान में यह पूर्वमान्यता है कि स्व-रूप कोई विषय-वस्तु है, जिसके ज्ञान की मनुष्य इच्छा करता है और जिसके अपने स्वयं के रूप से उस ज्ञान की सत्यता या असत्यता निर्धारित होती है। किन्तु कर्म में तो ऐसा बिल्कुल भी नहीं है, क्योंकि कर्म तो किसी ऐसी वस्तुस्थिति को चरितार्थ करने की चेष्टा या प्रयत्न होता है जो उस प्रयत्न या चेष्टा के बगैर उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। न्याय की शब्दावली में कहें तो मुनष्य का संकल्प ही उसका करण है, वह चाहे निमित्त मात्र ही क्यों न हो। पर संकल्प के अलावा मनुष्य में एक ऐसी कल्पनाशक्ति भी माननी पड़ेगी जो किसी ऐसी वस्तुस्थिति का चिन्तन करती है जो वास्तव में अभी प्रतिफलित नहीं हुई है और जो एक तरह से उसे 'प्रेय'और 'श्रेय' दोनों लगती है। इन दोनों में विरोध हो सकता है, पर मनुष्य की इच्छा तो यही है कि जिसे वह कर्म के द्वारा चरितार्थ करता है वह प्रेय और श्रेय दोनों ही हो।

वेद के अनुसार कर्म के द्वारा ही मनुष्य अपने को उस चरम सत् से जोड़ता है जिसको जानने की जिज्ञासा सहज रूप में उसके ज्ञान पक्ष में उदय होती है और जिससे वह भावना के द्वारा भी सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है। पर कर्म का यह सम्बन्ध बड़ा अजीब सा है, क्योंकि कर्म पर 'औचित्य' और 'श्रेय' दानों का समान अधिकार प्रतीत होता है। पर ये दोनों ही मनुष्य को उसको उपलब्ध साधनों के द्वारा प्राप्त नहीं होते क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान, जो कि दो शक्तियाँ मनुष्य के पास किसी भी चीज़ को जानने की होती हैं, वे न तो कर्म का औचित्य ही स्थापित कर सकती हैं और न यह कि श्रेय क्या है। इसलिए या तो मनुष्य में ही कोई ऐसी शक्ति माननी पड़ेगी, जो उसको यह बता सके कि उचित क्या है और श्रेय क्या है, या फिर प्रत्यक्ष और अनुमान के अलावा ज्ञान का कोई अन्य स्रोत मानना पड़ेगा, जो उसे यह बता सके। वेद में इस प्रश्न को अनेक प्रकार से उठाया गया है और ऐसा कहने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य के अन्तर में जो देवता है वे मनुष्य को औचित्य और श्रेय का ज्ञान देते रहते हैं और उन्हीं के द्वारा मनुष्य को यह पता लगता है कि उसे क्या करना चाहिए। आगे चलकर लोगों ने 'वेद' को ही इस तरह के ज्ञान का स्रोत माना और उसको 'शब्द प्रमाण' कहकर इंगित किया।

कर्म पर विचार का एक नया क्रम जो वेदों में मिलता है वह यज्ञ के नाम से सुपरिचित है। यज्ञ का विधान वेदों में मिलता है और ये यज्ञ अनेक प्रकार के हैं,

परन्तु यज्ञ रूप में कर्म का लक्षण यही माना जा सकता है कि वह मूल रूप में एक ऐसी सार्वजनिक क्रिया है जिसमें सब लोग मिलकर कुछ 'देते' हैं और जिसका 'फल' ऐसा है जिसे उसमें भाग लेने वाला कोई भी व्यक्ति अपनी खुद की कोशिश से नहीं पा सकता था। त्याग की भावना और मिलकर काम करना कर्म के दो ऐसे अंग हैं जो कर्म पर चिन्तन के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। यज्ञ का दूसरा एक अंग यह भी माना जा सकता है कि इस प्रकार का कर्म एक विशेष रूप लिए हुए होता है, जिसमें कर्मों के भिन्न अंग एक ऐसी संरचना करते हैं जो स्वयं में मनुष्य को ऐसी पूर्णता का आभास दे जिसमें सत्, शिव और सुन्दर तीनों का समावेश मिलता है। पर यह सब ठीक होते हुए भी इस सन्दर्भ में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बहुत सारे यज्ञ मनुष्य की छोटी-छोटी कामनाओं की सिद्धि के लिए किये जाते थे। यहाँ तक कि अपने शत्रु को मारने के लिए भी वेद में यज्ञ की विधि बताई गई है। कई यज्ञों में पशु की बलि भी दी जाती थी। इसके सन्दर्भ में बाद में यह बहस बहुत हुई कि जब वेद में हिंसा की निन्दा है तो फिर वही वेद हिंसा को कैसे स्वीकार कर सकता है? आज के कुछ लोग तो यह भी नहीं मानते कि यज्ञ में जो पशु-बलि का विधान है वहाँ 'पशु' से वास्तव में अर्थ जीते-जागते पशु से था।

पर यह मान भी लें कि प्रकटत: पशु के अर्थ में प्रयुक्त शब्दों का वास्तव में अर्थ कुछ और है तब भी यह तो मानना पड़ेगा ही कि जैमिनी से लेकर सायण तक बहुत से लोग यह मानते थे कि बहुत से यज्ञों में पशु-बलि का विधान वेद करते हैं और इसी को सच मानकर वे यज्ञों में पशु-बलि भी करते थे। यह बात इससे और भी पुष्ट होती है कि इस सन्दर्भ में हिंसा के बारे में जो वाद-विवाद हुआ उसमें यह कहा गया कि यज्ञ के सन्दर्भ में की गई हिंसा वास्तव में 'हिंसा' है ही नहीं।

यज्ञ के सन्दर्भ में केवल 'हिंसा' की ही बात नहीं है, बल्कि जो और महत्त्व की बात है वह यह है कि यज्ञ की विधि क्या है? क्योंकि यज्ञ तभी सफल माना जा सकता है जब वह ब्राह्मण ग्रन्थों में बताई गई विधि के अनुसार किया जाए। इस विधि में कोई भी कमी हो तो यज्ञ का फल मिलने में बाधा हो सकती है। यही नहीं, कुछ लोग तो ऐसा भी कहते हैं कि ऐसा होने से उसका फल उल्टा भी हो सकता है। इसी सन्दर्भ में जैमिनी के **मीमांसा सूत्रों** का महत्त्व माना जाता है, क्योंकि वहाँ यज्ञों की विधि के बारे में सम्पूर्ण रूप से विचार किया गया है और अनेक स्थानों पर मूल ग्रन्थों में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को दूर करने की कोशिश की गई है। यही नहीं, उन्होंने प्रत्येक यज्ञ की विधि को भी निश्चित रूप दिया और इसलिए वेद की कर्मकाण्डपरक व्याख्या की जिसके कि वे प्रधान स्रोत माने जाते हैं। और चूँकि यज्ञ में मंत्रों का उच्चारण होता है, इसलिए यज्ञ में वर्णानुपूर्वी, स्वरानुपूर्वी और क्रियानुपूर्वी एक तरह से अनिवार्य हैं, क्योंकि इनके बगैर यज्ञ का फल मिलना अनिश्चित है। परन्तु जैमिनी ने अपने **मीमांसा सूत्रों** में यज्ञ की विधियों

को एक सुनिश्चित रूप देने के सन्दर्भ में उन अन्य विधियों का खण्ड़न किया जो उनके पूर्ववर्ती ऋषि मानते थे और जिनका नाम उन विधियों से यहाँ तक जुड़ा हुआ था कि जैमिनी ने उनका नाम लेकर ही उन विधियों का खण्ड़न किया। पर अगर ऐसा है तो यह मानना पड़ेगा कि जैमिनि के पहले जो यज्ञ किये जाते थे उनके अनुसार वे ठीक नहीं थे और जिन लोगों ने वे किये वे पाप के भागी हुए, या कम से कम उन्हें उस फल की प्राप्ति नहीं हुई, जिसके लिए उन्होंने वे यज्ञ किये थे। एक बात और जो ध्यान देने की है वह यह कि मंत्र क्या है इसमें भी मतभेद है और जैसा कि हमने पीछे देखा, सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में यहाँ तक कह ड़ाला है कि मंत्र का कोई लक्षण दिया ही नहीं जा सकता, क्योंकि जो भी लक्षण देंगे, उसमें अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष होंगे। इसलिए जिसे याज्ञिक मंत्र कहते हैं वही मंत्र माना जाना चाहिए।

पर याज्ञिकों की बात करते ही एक अन्य समस्या उत्पन्न होती है, और वह यह कि याज्ञिक कौन हैं? वास्तव में जो यज्ञ करते या कराते हैं वे किन्हीं ग्रन्थों को प्रमाण मानने वाले नहीं होते। वे तो वही विधि स्वीकार करते हैं, जो उनके अपने समय में स्वीकृत होती है। कुछ दिन पहले इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान फ्रिट्ज़ स्टॉल ने केरल में एक परम्परागत यज्ञ आयोजित किया था जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थ 'अग्नि' में वर्णन किया है और जिसकी उन्होंने फिल्म भी बनाई थी। यह यज्ञ केरल के प्रसिद्ध नम्बूदरी ब्राह्मणों द्वारा कराया गया था। स्टॉल के अनुसार जब वहाँ उन लोगों को यह बताया गया कि उनकी अपनाई गई विधि और वह विधि जो श्रौत सूत्रों में वर्णित है उनमें भेद है तो भी वे अपनी विधि को ही ठीक मानकर यज्ञ करते रहे।

इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक यज्ञों की असली विधि तो वह थी जो याज्ञिक अपनी परम्परा के अनुसार करते थे, न कि वह जो श्रौत सूत्रों में बताई गई थी, और चूँकि ये परम्पराएँ देश, काल और कुल के भेद से अलग-अलग रही होंगी, इसलिए इनके अनुसार होने वाले या वैदिक यज्ञ कहे जाने वाले यज्ञ एक से नहीं होंगे। विधियों की यह विविधता यज्ञ के 'श्रुतिपरक' होने पर कहाँ तक असर ड़ालती है, यह सोचने की बात है। पर इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि खुद श्रौत सूत्रों में भी कुछ ऐसी विधियों का वर्णन है जो नियमों के सन्दर्भ में भिन्न प्रकार की कही गई हैं। बौधायन श्रौत सूत्र का वह अंश, जो द्वैध सूत्रों के नाम से जाना जाता है, उन विधियों का वर्णन करता है जो उसकी अपनी बताई गई विधियों से भिन्न हैं, परन्तु जिसका उस सूत्र की परम्परा को मानने वाले कुछ अन्य लोग अनुसरण करते हैं। इससे ज्यादा अचम्भे की बात क्या हो सकती कि बौधायन की अपनी परम्परा में ऐसे लोग हों जो उसकी बताई गई विधियों को नहीं मानें और कुछ अन्य विधियों का पालन करें और उन विधियों का वर्णन स्वयं बौधायन श्रौत सूत्र में सम्मिलित किया जाये? यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि

ये विधियाँ विकल्पों के रूप में नहीं दी गई हैं, यानि उस रूप में जहाँ श्रुति के अनुसार कई स्थानों पर स्वयं विकल्प की व्यवस्था दी गई है, जैसा कि जैमिनी ने कई बार कहा है। पर यह तो विकल्प नहीं होकर ऐसी विधियों का वर्णन है जिन्हें कुछ अन्य लोग अपनाते थे, कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार जैमिनी ने अनेक अपने पहले के ऋषियों की यज्ञ से सम्बन्धित विधियों का वर्णन किया है, और जिनका उसने अपने मीमांसा सूत्र में खण्ड़न भी किया है।

अवैदिक परम्पराएँ

इस सबसे जो एक बात स्पष्ट होती है वह यह है कि 'वेद' शब्द से बताये जाने वाले ग्रन्थों और उनमें कही गई बातों के बारे में न साम्य है और न कोई निश्चितता। इसलिए जो लोग श्रुति-प्रामाण्य या वेद-प्रामाण्य की बात करते हैं वे सब इसको भुलाकर ही कर पाते हैं। सच तो यह है कि 'वेद' केवल शब्द मात्र रह गया है और कोई यह जानने की भी चेष्टा नहीं करता कि परम्परा में इसका प्रयोग किस तरह से किया गया है और किन स्वार्थों की सिद्धि के लिए। 'स्वार्थ' का अर्थ यहाँ आज के प्रचलित अर्थ में न होकर केवल उस 'अर्थ' में है जो 'स्व' को स्वीकार हो या मान्य हो। 'वेद' शब्द से इंगित किये जाने वाले इस विशाल साहित्य के किस अंश को प्रामाणिक माना जाये और उसको किस अर्थ में लिया जाये, यह हरेक के 'स्व' पर निर्भर करता प्रतीत होता है। शायद भारतीय परम्परा की यही महत्ता है कि उसके प्रारम्भ से प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों के विषय में भी इतनी छूट दे दी गई है जो न बेचारे कुरान को मिली है और न बाईबिल को। इसलिए जो लोग 'वेद' को इनके जैसा मानते हैं वे 'वेद' के सम्बन्ध में इस मूलभूत भेद को भुलाकर ही ऐसा कहते हैं।

पर वेद के बारे में कितनी भी अनिश्चितता हो पर इतना तो निश्चित ही है कि प्रारम्भ से ही कई परम्पराएँ अपने को अवैदिक मानती थीं और उनसे सम्बद्ध परम्परा का खुलकर विरोध करती थीं। बुद्ध और महावीर इन अवैदिक परम्पराओं में अग्रणी माने जाते हैं और इनका समय ईसा की छठी शताब्दी पूर्व समझा जाता है। उन्होंने बौद्ध और जैन परम्पराओं का प्रवर्तन किया। बौद्ध और जैन दर्शन के नाम से जानी जाने वाली इन परम्पराओं को 'नास्तिक' दर्शन का नाम दिया जाता है। इनमें से जैन परम्परा तो महावीर के पहले से ही प्रचलित मानी जाती है जबकि बौद्ध परम्परा का जन्म बुद्ध से ही प्रारम्भ समझा जाता है। महावीर से पहले भी अनेक तीर्थंकर हुए थे और उस परम्परा के सबसे पहले तीर्थंकर, जिनको ऋषभदेव कहा जाता है, का वर्णन स्वयं वेद में मिलता है। स्वयं महावीर के समय में उनके पहले के तीर्थंकर, जिनका नाम पार्श्वनाथ था, उनके अनुयायियों का प्रसंग मिलता है, परन्तु यदि यह सत्य है तो अवैदिक परम्परा का प्रारम्भ महावीर

से बहुत पहले मानना होगा और अगर ऋषभदेव का वर्णन स्वयं वेद में है तो वेदों में ही अवैदिक धाराओं के वर्णन मिलते हैं, ऐसा मानना होगा। यह ठीक है कि वेद में ऋषि और मुनि का भेद किया गया है, परन्तु इसको वैदिक-अवैदिक रूप में स्वीकार करने का कोई आधार नहीं मिलता। महावीर से पूर्व की जैन परम्परा क्या थी और उसका वैदिक परम्परा से क्या सम्बन्ध था इस बारे में किसी विश्वस्त आधार के अभाव में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता, पर जहाँ तक बुद्ध और महावीर के समय से प्रारम्भ होने वाले युग की बात है उसके बारे में इतना तो निश्चित ही है कि उससे एक ऐसी परम्परा का प्रारम्भ होता है जो अपने को अवैदिक मानती है और जो वैदिक परम्परा के प्रधान स्तम्भ माने जाने वाले यज्ञ और वर्ण-व्यवस्था का विरोध करती है। ये परम्पराएँ श्रमण परम्परा के नाम से भी जानी जाती हैं, क्योंकि इनमें यह विश्वास किया जाता है कि चरम सत्य की खोज गार्हस्थ्य और समाज को छोड़कर ही की जा सकती है। स्वयं बुद्ध और महावीर ने गृहस्थ आश्रम का ही त्याग नहीं किया था बल्कि राज्य और समाज की जिम्मेदारी को भी छोड़ा था। बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण सबको पता ही है परन्तु महावीर ने भी ऐसा ही किया था। वे दोनों ही क्षत्रिय कुल के थे और राज-परिवारों में जन्मे थे और समाज तथा राज्य का पालन करना उनका जन्मजात उत्तरदायित्व था। यही नहीं, उन्होंने विवाह भी किया था और उनकी संतानें भी थीं। परन्तु इन सब धर्मों का त्याग कर सत्य की खोज में उन्होंने गृहस्थ, समाज व परिवार इन तीनों का त्याग किया और इसी प्रकार उन्होंने ऐसी परम्परा को जन्म दिया जिसमें यह सहज स्वीकृत था कि चरम सत्य की खोज इन सबको छोड़कर ही की जा सकती है। इसके विपरीत वैदिक-परम्परा में ऐसी कोई परिपाटी नहीं थी। यह ठीक है कि याज्ञवल्क्य ने अपनी दो स्त्रियों मैत्रेयी और कातयायनी से यह कहा था कि अब वे संसार छोड़ना चाहते हैं और इसलिए वे अपनी सब चीजों का उन दोनों के बीच बँटवारा करना चाहते हैं, परन्तु गृहस्थाश्रम का यह त्याग किस सत्य की प्राप्ति के लिए था? क्योंकि, उनको तो सत्य का ज्ञान पहले ही हो चुका था और उपनिषद् की कथा के अनुसार तो उन्होंने मैत्रेयी को यह ज्ञान प्रदान किया , क्योंकि उसने उनसे उस ज्ञान को माँगा था जिससे अमृत की प्राप्ति हो।

यद्यपि बुद्ध और महावीर दोनों एक ही समय में हुए थे, महावीर बुद्ध से कुछ बड़े थे और दोनों ने ही वेद-विरुद्ध परम्पराओं का आरम्भ किया था। लेकिन उन दोनों में बहुत गहरा मतभेद था। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि दोनों एक ही समय में हुए थे और करीब-करीब एक ही देश में अपने-अपने मतों का प्रचार करने के लिए घूमते थे, परन्तु ऐसा कोई वर्णन नहीं मिलता कि उन्होंने आपस में कभी कोई बात की हो। हाँ, उनके शिष्यों में परस्पर वार्तालाप की बात तो आती

है पर वह एक-दूसरे के समुदाय की निन्दापरक ही मिलती है। यही नहीं, बुद्ध तो महावीर के प्रति अनेक बार अवज्ञासूचक वचन भी कहते हैं और ऐसा भी कहते हैं कि पिछले अनेक जन्मों में उसने उनका विरोध किया था। इसके विपरीत, कम से कम जो कथाएँ उपलब्ध हैं, उनमें, महावीर ने कभी बुद्ध के बारे में कुछ कहा हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि यद्यपि दोनों ने संस्कृत भाषा को त्याग कर आम लोगों की बोलचाल में आने वाली भाषा का प्रयोग किया था पर दोनों के वचन आज जिन भाषाओं में उपलब्ध हैं वे अलग-अलग हैं। बुद्ध-वचन पाली भाषा में मिलते हैं जबकि महावीर के वचन प्राकृत में पाये जाते हैं। इस भेद का कोई ऐसा समाधान नहीं मिलता जो बुद्धि को सहज रूप में स्वीकार हो। यही नहीं, उन्होंने जो उपदेश दिये थे उनमें भी गहरा भेद प्रतीत होता है। बुद्ध ने किसी भी तत्त्व की सत्ता का खण्डन किया था और अवयवी के रूप में दिखने वाली वस्तु की अखण्डता का यह कहकर अस्वीकार किया था कि वह वास्तव में अवयवों की संघात मात्र होती है और उसमें जो एकत्व दिखाई देता है वह वास्तव में हमारी कल्पना का आरोप होता है। वास्तव में अगर सोचे तो साधारण अनुभव की बात है कि अगर किसी भी चीज़ को स्वयं उसके अपने ऊपर छोड़ दिया जाये तो वह धीरे-धीरे खण्ड-खण्ड रूप में नष्ट हो जाती है और फिर उसका ऐसे विलय हो जाता है जिसके बारे में यह कहना कठिन होता है कि वह क्या है। उसका कोई रूप ही नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत महावीर ने द्रव्य और पर्याय का भेद किया और देश-काल को भी द्रव्य मानकर केवल पर्यायों में ही परिवर्तन माना। एक प्रकार से वैदिक चिन्तन की धारा में द्रव्य अर्थात् चरम सत् की प्रधानता है, परन्तु उसमें उस सत् के स्थायित्व में और उसके विभिन्न धर्मों में होने वाले परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई है, जबकि महावीर ने द्रव्य और पर्याय में सम्बन्ध कुछ इस प्रकार से माना प्रतीत होता है कि द्रव्य बिना पर्याय के हो ही नहीं सकते। इसमें एक समस्या तो यह है कि क्या द्रव्य का ज्ञान पर्यायों के बगैर हो सकता है? कहने का अर्थ यह है कि द्रव्य को जानना एक प्रकार से उसके पर्यायों को ही जानना है और उसकी मान्यता केवल इस बात पर है कि पर्यायों का आधार उनमें स्वयं में न मानकर हमें किसी अन्य वस्तु में मानना पड़ता है। पर इस 'मानने' की ज़रूरत क्या है, इस पर लगता है कि जैन दर्शन में महावीर ने कोई विचार नहीं किया और ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध ने यह कहा कि आखिर जिसका ज्ञान हो ही नहीं सकता उसको आधार रूप में मानने के लिए औचित्य क्या है?

कुछ-कुछ ऐसी ही बात पश्चिमी दर्शन में 'लॉक' और 'बर्कले', जो इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध दार्शनिक थे, उनके बीच हुई थी। लॉक ने द्रव्य को गुणों के

आधार के रूप में स्वीकार किया था और यह कहा था कि वह स्वयं में क्या है इसके बारे में हम कुछ भी नहीं जान सकते, क्योंकि 'जानने' का अर्थ किसी गुण विशेष को जानना ही होता है। पर हालांकि हम उसको सिद्धान्ततः कभी जान नहीं सकते पर फिर भी हमको उसे गुणों के आधार के रूप में मानने की आवश्यकता प्रतीत होती है और इसी अनिवार्यता के आधार पर हम एक ऐसे जड़ द्रव्य की कल्पना करते हैं जिसमें वे सब गुण विद्यमान हों जो चेतना में नहीं पाये जाते, और इसी प्रकार एक ऐसे आत्म- द्रव्य को स्वीकार करने की आवश्यकता महसूस होती है जिसमें वे सब गुण विद्यमान हों जो सहज रूप में हमें चेतनाप्रकट वस्तु के गुण प्रतीत होते हैं, यानि जिनको हम कभी भी किसी जड़-वस्तु का गुण नहीं मान सकते। पर बर्कले ने इसके विरोध में कहा था कि हमको ऐसे जड़ द्रव्य को मानने की आवश्यकता क्यों महसूस होती है जिसका कभी कोई ज्ञान ही नहीं हो सकता और उसने इस अनिवार्यता को अस्वीकारा, पर फिर भी उसने चेतन द्रव्य को तो माना ही, और शायद उसने ऐसा इसलिए किया कि 'आत्मा' की स्वेचतना अवश्य सहज रूप में होती है। परन्तु बर्कले के बाद आने वाले प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने इस अनिवार्यता को भी अस्वीकार किया और कहा कि जब कभी भी मैं अपनी चेतना का निरीक्षण करता हूँ तब मुझे वहाँ कोई 'गुण' ही प्राप्त होता है, न कि कोई आत्म द्रव्य। इसलिए वास्तव में जो सत् है वह तो केवल चेतना का प्रवाह मात्र है जिसमें अनेकानेक गुणों का अनुभव होता है। इसके बहुत बाद में एक आधुनिक प्रसिद्ध दार्शनिक, जिनका नाम बट्रेण्ड रसल था, उन्होंने ह्यूम के इसी मत का परिष्कार करके एक नया रूप दिया और यह कहा कि जो अनुभूत है वह तो केवल गुण मात्र ही है, परन्तु उससे हम दो विभिन्न द्रव्य-जगतों की सृष्टि करते हैं जो एक ओर जड़ जगत् नाम से जाना जाता है और दूसरा चेतन जगत् के नाम से। उनका कहने का अभिप्राय यह था कि चाहे जड़ की बात हो या चेतन की वास्तव में तो हम उसकी सत्यता की पहचान इसी आधार पर करते हैं कि वह हमारे अनुभव जगत् में किस प्रकार रूपान्तरित होकर अनुभूत होती है यह सत् अनुभूत जगत् उनके अनुसार न चेतन ही कहा जा सकता है और न जड़, परन्तु इसके आधार पर ही हम दो जगतों की सृष्टि करते हैं जिनके स्थायित्व-अस्थायित्व की परख इसी कसौटी पर होती है।

रसल के इस सिद्धान्त का आधुनिक दर्शन पर बहुत अधिक प्रभाव हुआ और इसके मूल में उनकी यह दृष्टि थी कि वास्तव में जिसको हम वस्तु के रूप में मानते हैं वह एक शुद्ध 'तार्किक संरचना' होती है, हालांकि हम उसको इस रूप में अधिकांशतः नहीं देखते। प्रत्यक्ष जगत् में दिखायी देने वाली वस्तु भी उनके अनुसार अगर ध्यान से देखें तो 'तार्किक संरचना' ही दिखाई देगी, क्योंकि उसके

होने का अर्थ यह होता है कि हमें कुछ सहज इन्द्रिय संवेद्य अनुभव प्राप्त हों। यह बात इससे सिद्ध होती है कि कोई व्यक्ति जो जन्म से अंधा हो उसको यदि दृष्टि मिल जाये तो वह संसार को उस रूप में नहीं देखता जिस रूप में हम देखते हैं, उसके लिए मेज, कुर्सी, पेड़, आकाश आदि ऐसे नहीं होते जैसे हमें दिखाई देते हैं और उसके लिए इस तरह से 'देखना' उसी तरह से 'सीखना' होता है, जैसे कोई बालक भाषा को सीखता है।

पर हमारा यहाँ इरादा रसल को या पश्चिमी दर्शन में इस सन्दर्भ में जो विचार हुआ है उसको समझने का नहीं है। हम तो भगवान बुद्ध की दृष्टि को समझने की चेष्टा कर रहे थे और उनका इस विषय में महावीर से जो भेद था उसको भी समझने की। द्रव्य को स्वीकार करना, चाहे वह जड़ हो या चेतन, और उसको माने बगैर अनुभव को समझने की चेष्टा में ये दो विरुद्ध दृष्टियाँ भारतीय परम्परा में जैन और बौद्ध दर्शनों के साथ प्रारम्भ से ही जुड़ी हुई हैं। हालांकि जैसा हम बाद में देखेंगे, यह भेद केवल उन्हीं के चिन्तन में नहीं पाया जाता, वरन् और जगह भी मिलता है। बुद्ध ने जहाँ एक ओर किसी अवयवी के संघात मात्र होने की बात कही वहाँ इस बात की भी चर्चा की कि वास्तव में हर अवयव एक अवयवी ही है और इसे विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर विश्लेषण समाप्त कैसे होगा यह कहना कठिन है। इसके अलावा एक और बात जिसकी ओर ध्यान दिलाया था वह यह है कि अवयव भी अपने-आप में कोई स्थायित्व लिए नहीं होते, वे भी एक सतत् प्रवाह मात्र होते हैं जहाँ एक क्षणिक सत्ता दूसरी क्षणिक सत्ता से अनुगत होती है। उसमें स्थायित्व उसी प्रकार भ्रम मात्र है जिस प्रकार किसी वस्तु को विभिन्न खण्ड़ों का संघात न देखकर उसको अपने ही रूप में देखना और उसको अखण्ड़ मानना। वास्तव में तो वह खण्ड़-खण्ड़ ही है। जैसे खण्ड को समग्र के रूप में देखने में भ्रान्ति है उसी तरह उसे काल में भी स्थायी देखने में भ्रांति है और हमारा जो वस्तुओं से रागात्मक सम्बन्ध उत्पन्न होता है वह इस भ्रान्ति के कारण ही होता है कि हम उनमें एक स्थायित्व, नित्यता और आत्म को आरोपित करते हैं। पर हमारी यह कोशिश भी अन्त में नाकाम ही साबित होती है, क्योंकि जो यह कोशिश करता है और जिसके लिए यह कोशिश की जा रही है वे दोनों नष्ट हो जाते हैं। इतिहास यही बताता है व अनुभव भी यही बताता है। पर इस सत्य के आधार पर जीवन कैसे जिया जा सकता है?

इसके अलावा बुद्ध और महावीर ने दार्शनिक प्रश्नों के बारे में जो दृष्टिकोण अपनाये थे वे भी महत्त्व रखते हैं, क्योंकि जहाँ एक ओर बुद्ध ने दार्शनिक प्रश्नों की जीवन की मूल समस्याओं के सन्दर्भ में प्रासंगिकता की बात की वहीं दूसरी ओर दार्शनिक को मानव की मूलभूत समस्याओं का निवारण करने वाले के रूप

में देखा, जो आधुनिक दर्शन की परम्परा में विट्गेन्स्टाइन और लेज़रविट्स आदि जैसे आधुनिक पश्चिमी दार्शनिकों ने भी एक-दूसरे सन्दर्भ में देखा। उन्होंने दर्शन को एक भाषाजन्य बीमारी के रूप में देखा और दार्शनिक का काम उस बीमारी में फँसे लोगों को उससे मुक्त कराना बताया, जो आज एक प्रतिष्ठित दार्शनिक मत है। एक तरह से बुद्ध ने भी यही कहने की चेष्टा की थी कि मूलभूत दार्शनिक प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता है, इसलिए उनके बारे में चिन्तन बेकार है। वे केवल मनुष्य का ध्यान उसकी मूलभूत समस्याओं से हटाते हैं और उनका निराकरण करने के मार्ग में उसके लिए बाधा के रूप में ही उपस्थित होते हैं। इसी से बौद्ध लोग बुद्ध को महाभैषज कहते हैं। इसका अर्थ यही है कि वे महावैद्य, डॉक्टर के भी डॉक्टर हैं। अंग्रेजी में इस दृष्टिकोण से दर्शन को देखने को थैरेपी या रोग-निदान और रोग-उपचार कहा जाता है। दूसरी ओर महावीर ने दर्शन को ऐकान्तिक दृष्टियों का समूह बताकर यह कहने की चेष्टा की कि ऐकान्तिक दृष्टि ही सब भ्रमों का मूल कारण है और मनुष्य जो आपस में झगड़ते रहते हैं वह इसी कारण से कि वे सत्य को ऐकान्तिक रूप में ही देखते हैं, अनैकान्तिक रूप में नहीं। आज के दार्शनिक माहौल में यह बात ठीक इस तरह तो प्रचलित नहीं है, परन्तु इससे मिलता-जुलता ही उसने एक दूसरा रूप धारण किया है। आज अनेक दार्शनिक लोगों का यह मत है कि वास्तव में वस्तुओं का अपना कोई सत्त्व नहीं होता। इसलिए यह कहना कि वस्तु ऐसी ही है, किसी अन्य प्रकार की नहीं, भ्रान्ति-जनक होता है। भ्रांतिवश हम यह मानते हैं कि वस्तु का वास्तव में एक ही रूप है। दूसरी ओर आज यह भी काफी हद तक कहा जाता है कि हमें परिप्रेक्ष्य की ओर ध्यान देना चाहिए। कोई बात किसी सन्दर्भ विशेष में ही सत्य या असत्य होती है, इसलिए बात का सन्दर्भ जाने बिना न तो बात सत्य कही जा सकती है, न झूठ। इस तरह की बात बहुत कुछ महावीर की दृष्टि से मेल खाती है। एक तरह से देखें तो बुद्ध का यह कहना कि वस्तुओं का कोई स्वरूप नहीं होता इससे यह बात भी सच होती दिखाई देती है कि अगर ऐसा है तो उसके बारे में एक ही बात सच हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर यह ठीक होने पर भी परम्परा में बौद्ध और जैन दृष्टियों में बहुत मौलिक भेद माना गया है और उनमें जो साम्य था या जो साम्य उत्पन्न हो सकता था उसको देखा नहीं गया है।

वैदिक दर्शन-परम्परा

बौद्ध और जैन धर्मों के उदय के बाद भारतीय दर्शन विभिन्न धाराओं में बँटता दिखायी देता है। एक वे जो प्रधानत: वेद-परम्परा में उत्पन्न हुईं और दूसरी वे जो बौद्ध और जैन परम्पराओं में चलीं। स्वयं बौद्ध और जैन ग्रन्थों में अनेक अन्य दार्शनिक परम्पराओं का वर्णन है जो बुद्ध और महावीर के समकालीन दार्शनिकों

से सम्बद्ध मानी जाती थीं। इनमें शायद सबसे प्रसिद्ध नाम मक्खलि घोशाल का है, लेकिन इसके अलावा भी अन्य बहुत से नाम हैं। दूसरी ओर वैदिक परम्परा में भी अनेक ऋषियों के नाम आते हैं जिनमें शायद सबसे प्रसिद्ध नाम याज्ञवल्क्य का है जिसके अनेक संवाद बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित हैं। जनक की सभा में इनके शास्त्रार्थ और मैत्रेयी से संवाद एक प्रकार से उपनिषद् में वर्णित दार्शनिक चिन्तन के दृष्टान्त माने जाते हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त भी उपनिषदों में अनेक स्थल हैं जो दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये प्रधानत: छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में मिलते हैं। इनके अलावा केन, कठ आदि अन्य उपनिषदों में भी इनकी चर्चा है लेकिन ये प्रधानत: दर्शन की उस धारा को ही जन्म देते हैं जो वेदान्त के नाम से जानी जाती है और जिसका मूल स्रोत उपनिषदों की उन कथाओं में ही प्रधानत: पाया जाता है। इसको वेदान्त नाम देने में शायद एक मूल भ्रान्ति यह रही है कि 'उपनिषद्' नाम से जाने जाने वाले ग्रन्थ वास्तव में 'वैदिक' साहित्य का अन्तिम भाग हैं, जो जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वास्तव में सच नहीं है। दूसरी ओर इसका अर्थ यह भी लगाया जाता है कि वेदान्त नाम से जाने जाने वाले दर्शन ही वेद के असली सार हैं, जो तभी ठीक माना जा सकता है, यदि हम वेद का अर्थ बताने वाली दूसरी परम्पराओं को, जो यज्ञ और कर्म-प्रधान हैं, उनको बिल्कुल भुला दें। 'वेदान्त' शब्द का अर्थ यह भी दिया जाता है कि यह वेदों का वह अंग था जो व्यक्ति को उसका अध्ययन-काल समाप्त होने पर पढ़ाया जाता था। पर ऐसा भी सत्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि अध्ययन समाप्त होने पर तो व्यक्ति अपने घर वापिस लौटता है और गृहस्थाश्रम में प्रवेश की तैयारी करता है। अगर ऐसा है तो वेदान्त कहे जाने वाला दर्शन उसके कोई विशेष काम का नहीं हो सकता। पर कुछ भी हो, इसमें तो कोई शक नहीं है कि उपनिषदों में जिस दर्शन की चर्चा है वह भारतीय दर्शन के स्रोतों में एक स्रोत अवश्य रहा है और जिस प्रकार मीमांसासूत्रों में वैदिक परम्परा को एक प्रकार का अर्थ देने की चेष्टा की गई उसी प्रकार ब्रह्मसूत्रों मे उपनिषदों में व्याप्त दृष्टि को एक सुनिश्चित सशक्त रूप देने की चेष्टा हुई। इसलिए यह ज़रूर कहा जा सकता है कि वैदिक परम्परा से निकलने वाली ये दो प्रधान दार्शनिक धाराएँ हैं—एक जो मीमांसासूत्र में आबद्ध है और दूसरी ब्रह्मसूत्र में। लेकिन ये दो धाराएँ एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं और विरोधी भी, हालांकि आज के बहुत सारे विद्वानों ने इनके विरोध को नकारने की कोशिश की है। मीमांसा और ब्रह्मसूत्र के आपसी विरोधों की चर्चा हम बाद में करेंगे लेकिन कम से कम इतना तो स्पष्ट होना चाहिए कि दर्शन की अन्य धाराएँ, जो बौद्ध और जैन परम्पराओं में भिन्न हैं, वे वैदिक परम्परा में कम से कम उस प्रकार से नहीं रखी जा सकतीं जिस प्रकार से उन परम्पराओं

को सहज रूप में देखा जा सकता है जो **मीमांसासूत्र** और **ब्रह्मसूत्र** से प्रभावित हैं। गौतम का **न्यायसूत्र**, कणाद का **वैशेषिकसूत्र**, पतंजलि का **योगसूत्र** और **सांख्य** का सृष्टि-तंत्र उस प्रकार से वैदिक परम्परा से निकले हुए नहीं कहे जा सकते जिस प्रकार **मीमांसासूत्र** या **ब्रह्मसूत्र**।

कणाद का **वैशेषिकसूत्र** दार्शनिक सूत्रों की परम्परा में **मीमांसासूत्र** और **ब्रह्मसूत्र** के बाद लिखा हुआ माना जाता है और अधिकतर उसको लोग वैदिक परम्परा में ही रखते हैं। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि कणाद, जिनको वैशेषिकसूत्रों का रचयिता माना जाता है, वे अपने वैशेषिक सूत्रों का प्रधान विषय वही बताते हैं जो मीमांसासूत्रकार ने मीमांसासूत्रों में बताया है। वहाँ भी धर्म का स्वरूप बतलाने की चेष्टा थी और वैशेषिक सूत्रों का रचयिता भी यह दावा करता है कि वह अपने सूत्रों में धर्म की व्याख्या करेगा और उसका सही स्वरूप बताएगा। पर अगर यह बात ठीक है तो एक तरह से यह मानना होगा कि कणाद को धर्म की जैमिनी की व्याख्या मान्य नहीं थी और उन्होंने उसके विरोध में धर्म की एक स्वतन्त्र व्याख्या करने की कोशिश की। क्योंकि यह मानना तो मुश्किल होगा कि कणाद को मीमांसासूत्रों का पता नहीं था। अगर हम यह मान भी लें तो इससे यही नतीजा निकलेगा कि वैदिक कही जाने वाली दार्शनिक परम्पराएँ एक-दूसरे के बारे में जानती भी नहीं थीं, दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि कणाद न उपनिषदों की व्याख्या कर रहे थे और न वेद के उन अंशों की जो यज्ञ से सम्बन्धित हैं। उनका ग्रन्थ स्वतन्त्र लगता है। पर उसमें एक नई बात ज़रूर परिलक्षित होती है, वह यह कि वे अपने सूत्रों में यह कहने की चेष्टा करते हैं कि धर्म के द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की प्राप्ति होगी, या दूसरी तरह से कहें तो धर्म वह है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों प्राप्त होते हैं। मीमांसासूत्र के रचयिता ने ऐसा कोई भी दावा नहीं किया था। उसके लिए तो वेदों में बताए हुए यज्ञ और उनसे मिलने वाले जो विभिन्न फल थे वे ही धर्म का प्रयोजन कहे जा सकते थे। प्रधानतः उस फल का नाम 'स्वर्ग' था। हालांकि अनेकानेक अन्य फल, जैसे पुत्र, वृष्टि, धन-धान्य, शत्रु-नाश आदि, विशिष्ट यज्ञों से मिलने वाले फल कहे जाते हैं और इन सबको शायद 'अभ्युदय' में शामिल किया जा सकता है। दूसरी ओर **ब्रह्मसूत्र** के रचयिता ने ऐसा दावा नहीं किया था कि ब्रह्मज्ञान से कुछ प्राप्त होगा। उसने तो केवल यही कहा था कि उसके सूत्र ब्रह्म की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए हैं, या दूसरे शब्दों में कहें कि अगर किसी को ब्रह्म का स्वरूप जानने की इच्छा है तो उसके सूत्र ब्रह्म के स्वरूप को समझने में उसके सहायक होंगे। 'ब्रह्म को जानने' से क्या मिलेगा, ऐसा उसने कुछ नहीं कहा है, पर ऐसा माना जा सकता है कि उसके लिए ब्रह्म का ज्ञान स्वयं साध्य था, साधन नहीं।

इस दृष्टि से देखें तो शायद कणाद यह कहना चाहते थे कि धर्म वह है जो उसे वह सब देता है जो मीमांसासूत्र और ब्रह्मसूत्र दोनों मनुष्य को दिलवाने का दावा करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार धर्म केवल अभ्युदय ही नहीं देता बल्कि निःश्रेयस् की ओर भी ले जाता है। निःश्रेयस् का अर्थ पूर्णरूपेण वह तो नहीं माना जा सकता जो ब्रह्मज्ञान से लक्षित होता है, पर वह कुछ-कुछ वैसा ही है यह शायद किसी को अस्वीकार न हो। पर अगर हम यह मान भी लें कि कणाद अपनी व्याख्या से वह सब देने का दावा करते हैं जो मीमांसासूत्र और ब्रह्मसूत्र अलग-अलग देने की कोशिश करते हैं तो भी यह तो आश्चर्य की बात होगी कि वे इन सबकी प्राप्ति का साधन कुछ ऐसी बौद्धिक कोटियों के ज्ञान को बताते हैं जिनका न कोई ब्रह्म से नाता है और न यज्ञ से कोई रिश्ता। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय कणाद के ये तत्त्व हैं जिनका ज्ञान उनके अनुसार मनुष्य को धर्म का ज्ञान देता है और वह धर्म मनुष्य को अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों प्राप्त कराता है। यह कैसी बौद्धिक कोटियाँ हैं और इनका ज्ञान कैसे धर्म को उत्पन्न कर सकता है और उससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति कैसे हो सकती है। यह एक ऐसा जटिल सवाल है जिसका उत्तर बहुत कम लोगों ने देने की चेष्टा की है। यही नहीं, यह भी सब लोग मानते हैं कि कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्रों में शब्द का प्रमाण नहीं माना और अगर यह ठीक है तो फिर उन्होंने वैदिक परम्परा के मूल पर ही आघात किया, क्योंकि वह परम्परा तो वेद को ही प्रमाण मानती थी, फिर चाहे वह ब्रह्म-ज्ञान के लिए हो या यज्ञ-मूलक 'धर्म' के लिए हो। इस प्रकार वैशेषिक सूत्रों के रचयिता को वैदिक परम्परा के साथ जोड़ना उसके साथ अन्याय करना है। वह स्वतंत्र चिन्तक है और अपनी नई बात कहने की चेष्टा करता है, उसे जब तक हम इस रूप में नहीं देखेंगे उसके दार्शनिक विचार को नहीं समझ पायेंगे।

अक्सर माना जाता है कि वैशेषिक सूत्रों के बाद गौतम ने **न्यायसूत्रों** की रचना की। उनके विषय प्रमाण-प्रमेय आदि हैं। उन्होंने भी यह दावा किया कि इस प्रमाण-प्रमेय-व्यापार का ज्ञान मनुष्य को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कराएगा जिससे उसे निःश्रेयस् की सिद्धि होगी। लगता है कि भारत में उस समय कोई ऐसी सांस्कृतिक 'हवा' थी कि सबको अपनी बात मनवाने के लिए यह कहना पड़ता था कि उससे निःश्रेयस्, अपवर्ग या निर्वाण आदि की प्राप्ति होगी, क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं कहते तो लोग उनकी बात भी सुनने को तैयार नहीं होते। अन्यथा प्रमाण-प्रमेय, संशय, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव आदि के ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति कैसे होगी, यह समझना कठिन है। ऐसा लगता है कि गौतम की भी वही मजबूरी थी जो कणाद ने महसूस की थी। आखिर उनके पहले आने वाले दार्शनिक स्वर्ग, ब्रह्मज्ञान, निर्वाण, सर्वज्ञता आदि दिलाने का वादा करते थे तो फिर ये बेचारे पीछे

कैसे रह सकते थे। पर जिस प्रकार कणाद एक अन्य प्रकार के ज्ञान की बात करते हैं जो बौद्धिक कोटियों से सम्बन्धित है उसी प्रकार गौतम मनुष्य की बुद्धि के अन्य आयाम को समझने की चेष्टा करते हैं जो तर्कनिष्ठ है और जो हमेशा यह पूछता है कि जो किसी ने कहा है उसका आधार क्या है? अगर कणाद बुद्धि के स्वरूप का ही वर्णन करने की कोशिश करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर गौतम बुद्धि के व्यापार को समझने की चेष्टा करते हैं। बुद्धि का स्वरूप और बुद्धि का व्यापार ये दोनों दर्शन की मूलभूत समस्याएँ रही हैं। परन्तु भारतीय दर्शन-परम्परा ने कणाद और गौतम के प्रयास को इस रूप में नहीं देखा है। इसका कारण यह था कि उन्होंने तो बुद्धि के स्वरूप और व्यापार को समझने की चेष्टा की लेकिन उस कोशिश को अपवर्ग, निःश्रेयस् आदि से जोड़कर देखा और दूसरे, दार्शनिकों का ध्यान अपने मौलिक चिन्तन की ओर से हटा दिया। दूसरी ओर ऐसा भी लगता है कि उनके इस स्वरूप और व्यापार को समझने की कोशिश खुद उस बौद्धिक और सांस्कृतिक परिवेश से प्रभावित थी, जिसमें एक ओर ब्रह्म-ज्ञान की चर्चा थी, जिसका आधार वेद माने जाते थे, और तीसरी और वे श्रमण-परम्पराएँ थीं जो संसार और उसके समस्त व्यापार को ही त्याग कर परमार्थ को पाने की चेष्टा करती थीं। कणाद ने तो शब्द को प्रमाण नहीं माना था पर ऐसा लगता है कि वैदिक परम्परा का प्रभाव गौतम तक आते-आते इतना बढ़ गया था कि उनको शब्द को प्रमाण रूप में मानना पड़ा। पर ऐसा लगता है कि उन्हें यह बात जबरदस्ती ही स्वीकार करनी पड़ी, क्योंकि जहाँ एक ओर उन्होंने शब्द-प्रमाण रूप में वेद को माना है वहीं दूसरी ओर शब्द-प्रमाण के उदाहरण रूप में आयुर्वेद जैसे शास्त्र का भी उल्लेख किया है जो स्पष्टत: उस रूप में प्रमाण नहीं माना जा सकता जिस रूप में मीमांसा या ब्रह्मसूत्रों के रचयिता वेदों को प्रमाण मानते थे। यही नहीं, उन्होंने मीमांसा के विरुद्ध शब्द की अनित्यता को माना और उसकी नित्यता का खण्डन किया, जिस नित्यात्मकता के आधार पर मीमांसा ने वेदों के अपौरूषेयत्व की स्थापना की थी। जो भी हो, इसमें कोई शक नहीं कि कणाद और गौतम ने भारतीय दर्शन में बुद्धि के स्वरूप और बुद्धि के व्यापार की मौलिक गवेषणा प्रारम्भ की।

इसी समय, या गौतम के कुछ ही बाद, प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का काल माना जाता है। नागार्जुन बौद्धमहायान के प्रसिद्ध दार्शनिक ही नहीं थे, बल्कि उन्होंने बुद्धि के उस चरम तार्किक विरोध की परम्परा को प्रारम्भ किया जिसमें बुद्धि स्वयं यह पाती है कि वह चरम सत् को जानने में कभी सक्षम नहीं हो सकती। कुछ हद तक उपिनषदों ने भी ऐसा कहा था। भगवान् बुद्ध ने तो चरम प्रश्नों पर मौन धारण करके यह संकेत दिया था कि इनका बुद्धि के द्वारा कोई

उत्तर नहीं दिया जा सकता। पर भारतीय परम्परा में नागार्जुन ही ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने स्वयं बौद्धिक युक्ति-तर्क के द्वारा ही यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि बुद्धि ऐसा क्यों नहीं कर सकती।

नागार्जुन और गौतम का आपसी सम्बन्ध क्या था यह कहना कठिन है, उनके काल का निर्धारण ठीक-ठीक नहीं मिलता। अगर हम यह मानें कि नागार्जुन गौतम के बाद में हुए थे तो ऐसा लगता है कि उन्होंने गौतम के **प्रमाणसूत्र** की स्थापना के मूल में ही आघात करके यह दिखाने की चेष्टा की कि सारा प्रमाण-व्यापार स्वयं व्याघात से ग्रसित है। दूसरी ओर अगर यह मानें कि गौतम नागार्जुन के बाद में हुए तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने नागार्जुन के विरोध में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रमाण-प्रमेय व्यापार बुद्धि का सार्थक कर्म है और इस व्यापार के द्वारा प्रमेयों की सिद्धि हो सकती है। हम अपने प्रमाण-प्रमेय व्यापार (तर्क) में कोई गलती न करें इसके लिए उन्होंने यह विस्तार से बताने की कोशिश की है कि मनुष्य इस व्यापार में क्या गलतियाँ करता है और यह भी कि उनसे कैसे बचा जा सकता है।

ऐसा कहा जाता है कि इसी काल में सांख्य दर्शन के प्रथम ग्रन्थ **षष्ठि तन्त्र** की रचना हुई। वैसे तो सांख्य सिद्धान्त के बहुत से पक्ष पहले भी कई ग्रन्थों में पाये जाते हैं, कुछ लोग तो **छान्दोग्य उपनिषद्** में सांख्य की चर्चा पाते हैं, लेकिन सुव्यवस्थित रूप में शायद **षष्ठि तंत्र** से पहले सांख्य का निरूपण नहीं मिलता। **षष्ठि तंत्र** का अर्थ ही यह है कि उसमें 60 तत्त्वों की चर्चा है और गौतम जिन तत्त्वों और पदार्थों की चर्चा करते हैं वह चर्चा उस परिवेश से प्रभावित थी। परन्तु सांख्य के विचार को वैदिक परम्परा में मुश्किल से ही रखा जा सकता है और अधिकतर कोई ऐसा करता भी नहीं है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सांख्य-परम्परा में सूत्रों की रचना बहुत बाद में हुई और **सांख्यसूत्र** के नाम से जाना जाने वाला ग्रन्थ शायद इसीलिए लिखा गया कि अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के अपने-अपने मूल सूत्र थे। यह ठीक है कि सांख्य से सम्बन्धित योग दर्शन का अपना स्वयं का सूत्र है जो **योगसूत्र** के नाम से जाना जाता है, और जिसके रचयिता पतंजलि कहे जाते हैं, लेकिन इन सूत्रों में दर्शन बहुत कम है, क्योंकि ये प्रधानत: उस योग की क्रिया से सम्बन्धित हैं जिसके द्वारा चित्त की साधारण वृत्तियों का निरोध करके सत्य का साक्षात्कार किया जाता है। योग के लिए तो प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही बेकार हैं, क्योंकि उनसे कोई तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता और जहाँ तक शब्द का सवाल है वह भी केवल इसी रूप में सहायक हो सकता है कि वह मनुष्य को उस ओर प्रवृत्त करे जहाँ चित्त की वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और चेतना अपने में सहज रूप में अवस्थित हो जाती है।

वैदिक परम्परा से निकलने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय इन 6 सम्प्रदायों में ही रखे जाते हैं—मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग। पर जैसा कि हमने देखा है, इनमें से केवल दो ही को वैदिक परम्परा का अभिन्न अंग माना जा सकता है। उनमें भी परस्पर गहरा मतभेद है, पर बहुत लोगों ने उस मतभेद को कम करके देखनी की चेष्टा की है और यह कहा है कि वास्तव में वे अलग न होकर एक ही मीमांसा के दो अंग हैं। एक पूर्व-मीमांसा है और दूसरी उत्तर-मीमांसा। एक का सम्बन्ध कर्म से है और दूसरी का ज्ञान से। जहाँ पहली समाप्त होती है वहाँ से दूसरी प्रारम्भ होती है और इस प्रकार वे एक-दूसरे की पूरक हैं विरोधी नहीं। यही नहीं, यह भी कहने की चेष्टा की जाती है कि दोनों को बीच में मिलाने वाला एक देवता-काण्ड़ या संकर्षण-काण्ड़ था जिसमें विभिन्न देवताओं की उपासना की विधि बताई गई थी और इस प्रकार वैदिक युग के बाद, जो एक पूर्ण रूपेण बाहरी क्रिया थी, उससे किसी फल की प्राप्ति के लिए देवताओं की उपासना द्वारा चित्त की शुद्धि की जाती थी। उसके बाद मनुष्य ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी होता था। पर यह सब कितना ही रोचक लगे, यह नहीं बता पाता कि अगर ऐसा था तो फिर मीमांसा और वेदान्त में इतना विरोध क्यों हुआ? यही नहीं, एक के लिए जो अर्थवाद है वही दूसरी के लिए वास्तव प्रतिपादितार्थ। मीमांसा और वेदान्त में विरोध यहीं तक सीमित नहीं है, वह तो करीब-करीब हर बात को लेकर है। जो लोग 'उपासना' की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि आचार्य शंकर ने उपासना को कर्म की कोटि में रखा और इस आधार पर उसको ब्रह्म-ज्ञान दिलाने में अक्षम माना। यह ठीक है कि स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में और आरण्यकों में भी यज्ञ का अर्थ ढूँढ़ने की कोशिश है, पर आज भी जब कोई वैदिक यज्ञ करता है तो वह उसको उसी रूप में करता है, जैसे याज्ञिक उसे करने को कहते हैं। जो लोग यज्ञ के अन्तर्गत सांकेतिक अर्थ की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि राजसूय और अश्वमेध जैसे यज्ञ चेतना के आन्तरिक रूप से सम्बन्धित नहीं किये जा सकते। ऐसा ही काफी हद तक दर्श पूर्णमास और ज्योतिष्टोम के बारे में भी सत्य प्रतीत होता है। और अगर ऐसा नहीं होता तो **जैमिनीय मीमांसासूत्र** में विस्तार से यज्ञ की विधियों की चर्चा क्यों की जाती और यह क्यों कहा जाता है कि कौन-सी विधि ठीक है और केवल उस विधि से ही उस विशेष फल की प्राप्ति होगी जिसके लिए यज्ञ किया जाता है?

❑

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्वर (2)

दार्शनिक परम्पराएँ और उनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के मूल सूत्र, जिनसे इन दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रारम्भ माना जा सकता है, करीब-करीब ईस्वी शताब्दी के शुरू में रचे जा चुके थे। इसके बारे में यह ठीक-ठीक कहना कि इनकी रचना कब हुई थी मुश्किल है लेकिन फिर भी इतना तो साफ ही है कि **मीमांसा सूत्र** सब से पहले रचे गए थे और **ब्रह्म सूत्र** उसके बाद। कुछ लोग **वैशेषिक सूत्रों** की रचना **मीमांसा सूत्र** से भी पहले मानते हैं। लेकिन अधिकतर लोग इसे स्वीकार नहीं करते। इसके बाद **वैशेषिक सूत्र** की रचना मानी जाती है और उसके बाद **न्याय सूत्र** की। **योग सूत्र** की रचना सबसे बाद में हुई है ऐसा जान पड़ता है, और जैसा कि हम सांख्य के बारे में बहुत पहले कह चुके हैं, उसका आदि ग्रन्थ, जो **षष्ठि तन्त्र** के नाम से जाना जाता है, उसको सूत्र की संज्ञा नहीं दी गई है।

जो लोग केवल दर्शन के ग्रन्थ ही पढ़ते हैं या सिर्फ उनके बारे में ही पढ़ते हैं उन्हें कुछ ऐसा लगता होगा कि जैसे इन ग्रन्थों के रचयिता कहीं किसी जंगल में बैठकर संसार से अलग-थलग अपने शिष्यों के साथ इन सब बातों की चर्चा करते थे। पर वास्तव में ऐसा नहीं था, क्योंकि यदि हम उस समय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को देखें तो हमें आश्चर्य होगा कि उस समय की संस्कृति एवं सभ्यता कितनी समृद्ध थी। यह ठीक है कि मौर्य साम्राज्य खत्म हो चुका था। अशोक, जिसके प्रसिद्ध शिलालेख अब भी भारत के कोने-कोने में पाए जाते हैं, उसका राज्य भी समाप्त हो गया था। पर यह बात ध्यान में रखने की है कि अशोक के काल में बौद्ध धर्म का भारत में ही नहीं भारत के बाहर भी प्रचार हुआ था। उसके समय में स्वयं उसके पुत्र और पुत्री धर्म के प्रचार के लिए सिंहल द्वीप गए थे जो आज श्रीलंका के नाम से जाना जाता है। बौद्ध धर्म का यह अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष कभी